आत्मधर्म

मासिक : वर्ष-१९ * अंक-४ * दिसम्बर-२०२४

સુખ વખતે સુખના રાગને ઘટાડ, તો દુઃખ વખતે દુઃખનો દ્વેષ ઘટશે. સમભાવ રાખવાની નાની તક ગુમાવી, મોટા દુઃખ વખતે ઘણી સમતા રાખીશ। તે વર્તમાન ધીઠાઈ છે. બંધના નાના કારણો તરફ દુર્લક્ષ કરી મોટા બંધના કારણથી છૂટ્યો છું એમ સમાધાન કરી સંતોષ રાખવો તે પોતાને વંચવા જેવું છે.

– પૂજ્ય ગુરુદેવશ્રી

सुखके समय सुखके रागको मंद करेगा तो दुःखके समय दुःखका द्वेष कम होगा। समभाव रखनेकी अल्प तक गँवाकर, अधिक दुःखके समय अधिक समता रखेगा वह वर्तमान हठाग्रह है। बंधके अल्प कारणकी ओर दुर्लक्ष करके अधिक बंधके कारण से मुक्त हो गया हूँ ऐसा समाधान करके संतोष रखना वह स्वयं को ठगने जैसा है।

–पूज्य गुरुदेवश्री

॥ नमः श्री सीमंधरजिनवराय ॥ ॥ नमः श्री जम्बूद्वीपस्थ शाश्वत जिनवरेभ्यः ॥

॥ नमः श्री कहानगुरुदेवाय ॥ ॥ नमः श्री बाहुबली मुनीन्द्राय ॥ ॥ श्री भगवती मातायै नमः ॥

मुक्तिमार्ग प्रकाशक पूज्य सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी की अध्यात्म साधनाभूमि श्री स्वानुभूति तीर्थ सुवर्णपुरी में

श्री जम्बूद्वीप स्थित शाश्वत जिनेन्द्रादि भगवंतों की प्रतिष्ठा और श्री बाहुबली मुनीन्द्र की प्रतिष्ठा का

प्रथम वार्षिकोत्सव एवं श्री बाहुबली मुनीन्द्र महामस्तकाभिषेक

पौष शुक्ल १३, ता. ११-१-२०२५, शनिवार से

पौष शुक्ल-१५, ता. १३-१-२०२५, सोमवार

अध्यात्मयुगस्रष्टा परम पूज्य, परम तारणहार सद्गुरुदेवश्री कानजीस्वामी तथा तद्भक्त पूज्य बहिनश्री चंपाबेन की साधनाभूमि सोनगढ की पवित्र धरा पर अतिभव्य एवं विशेष दर्शनीय नवनिर्मित श्री जम्बूद्वीप के शाश्वत जिनेन्द्र भगवंतों, सीमंधर जिनालय में विदेहीनाथ श्री सीमंधर भगवान, श्री पार्श्वनाथ भगवान और भावी तीर्थंकर भगवान, चार बालयति भगवंतों और निश्चलता सहित अडग ध्यान और वीतरागता के उत्कृष्ट प्रतीक, सभी साधको के लिये अति प्रेरणास्रोत व आदर्श ऐसे श्री बाहुबली मुनीन्द्र के प्रतिष्ठापन सह पंच कल्याणक का सुवर्णमयी अविस्मरणीय प्रसंग हम सभी ने विगत जनवरी महिने में मनाया। यह ऐतिहासिक प्रसंग को एक वर्ष पूर्ण होने जा रहा है, अतः श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट, सोनगढ अंतर्गत त्रिदिवसीय वार्षिक उत्सव का सुवर्णपुरी सोनगढ़ में आयोजन होने वाला है।

यह शुभ अवसर पर पधारने से सुवर्णपुरी में निर्मित भव्य जिनायतनों में विराजमान भाववाही जिनबिम्ब के दर्शन-पूजन-भक्ति का, पूज्य गुरुदेवश्री के अध्यात्मरस निर्झरित अनुपम प्रवचनोंका, प्रशममूर्ति भगवती माता पूज्य बहिनश्री की तत्त्वचर्चा का, भक्ति का, पूजन का एवं श्री बाहुबली मुनीन्द्रके महामस्तकाभिषेक का अनुपम लाभ मिलेगा। यह मंगल उत्सव पौष शुक्ल-१३, ता. ११-१-२०२५, शनिवार से पौष शुक्ल-१५, ता. १३-१-२०२५, सोमवार तक रहेगा । इस प्रसंग में ता. १३-१-२०२५, सोमवार के दिन ४१ फिट उन्नत श्री बाहुबली मुनीन्द्र का महामस्तकाभिषेक किया जायेगा। अतः आप सर्व मुमुक्षुओं को निजात्मलाभ हेतु इस मंगल प्रसंग पर पधारने का हमारा भावना सह आमंत्रण है।

लि.

प्रमुख श्री हसमुखलाल पोपटलाल वोरा

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर ट्रस्ट

सोनगढ

www.kanjiswami.org

Kanjiswami Songadh GET IT ON Goole Play Download on the App Store

वर्ष-19
अंक-4

आत्मधर्म

शाश्वत सुखका मार्ग दर्शानेवाली मासिक पत्रिका

वि. संवत 2080
December
A.D. 2024

परमागम श्री प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीके प्रवचन

(गाथा ५६-५७-५८ के प्रवचनमेंसे)

इन्द्रियाँ स्वयंके विषयको एक साथ ग्रहण कर सकती नहीं है इसलिये इन्द्रियज्ञान हेय है

इन्द्रियज्ञान स्पर्श, रस, गंध, वर्णको जानता है लेकिन आत्माको जानता नहीं है। इन्द्रियज्ञान भगवानके शरीरको, मूर्तिको, पुस्तकको जानता है, किन्तु भगवानके आत्माको जाननेका सामर्थ्य उसमें नहीं है। पुनश्च सभी रूपी पदार्थोंको भी एक साथ जाननेका सामर्थ्य इन्द्रियज्ञानमें नहीं है। वह इन्द्रियज्ञान जब भगवानको आँखसे देखनेका कार्य करे तब ध्वनि सुननेका कार्य कर सकती नहीं है और सुननेका कार्य करे तब स्पर्श आदिका कार्य कर सकती नहीं है। छद्मस्थ जीवकी सभी इन्द्रियाँ एक साथ ज्ञान कर सकती नहीं है क्योंकि क्षयोपशमज्ञानकी ऐसी ही योग्यता है। कोई कहे कि इन्द्रियोंमें कमजोरी होगी इसलिये जाननेमें आता नहीं है। यह बात असत्य है। आँख चली गई इसलिये जाननेमें नहीं आया कानमें कुछ बदलाव हुआ इसलिये सुननेका ज्ञान नहीं हुआ–यह मान्यता मिथ्या है, दर्दीको क्लोरोफॉर्म सुंघाया तो ज्ञानकी दशा कमजोर हो गई है वह क्लोरोफॉर्मके लेकर हुई नहीं है और स्थूल उपयोगरूप कार्य कर रही है तो क्लोरोफॉर्मकी असर पूर्णरूपसे हुई नहीं इसलिये ऐसा हुआ–ऐसा भी नहीं है। क्षयोपशमज्ञानकी उस समयकी ऐसी ही योग्यता है।

क्षयोपशमज्ञान–कौएके नेत्रकी भांति एक नेत्र जैसा शीघ्र गतिसे कार्य करता है अर्थात्

श्री संभवनाथ जिन-स्तुति	खविजली सम चंचलं सुख विषयका, करै वृद्धि तृष्णामऊ रोग जियका;	श्री स्वयंभू–स्तोत्र

स्थूल दृष्टिसे अज्ञानीको ऐसा लगता है कि स्वयंका ज्ञान एक साथ कार्य कर रहा है लेकिन वह उसकी भ्रांति है। क्षयोपशमज्ञान एक समय एक ही इन्द्रिय द्वारा क्रमपूर्वक एक के बाद एक विषयका ही ज्ञान कर सकता है। संसारदशामें ऐसा ज्ञान पराधीन है। कोई जीव हजारों अवधान कर रहा हो तभी प्रश्न सुनते समय उसका उपयोग अन्य इन्द्रियकी ओर होता नहीं है। इसी प्रकार जो क्रमपूर्वक ज्ञान होता है वह पराधीन है और दुःखका कारण है।

अज्ञानी जीवका लक्ष चाहे भगवानकी ओर तथा उसकी वाणीकी ओर हो लेकिन जब तक ज्ञान ज्ञाताका है ऐसी दृष्टि करके, चैतन्यकी ओर न झुके तो उसका परलक्षी क्षयोपशम भी अज्ञानभाव है, संसारभाव है। उस ज्ञानको इन्द्रियज्ञान बतलाकर यहाँ हेय दर्शाया है। स्वयंके ज्ञान पर्यायोंका, पर्यायवान ज्ञाता भगवानके साथ सम्बन्ध करना वह ही उपादेय है। सम्यग्दृष्टि जीवका ज्ञाताकी ओरका लक्ष ही मुख्य होता है और वह लक्ष ज्ञाताके साथ सर्वथा अभेद होने पर केवलज्ञान प्रकट होता है।

क्षयोपशमभाव परके आश्रयसे कार्य करता है वह अधर्म है और पर जितना-अंश जितना माने वह पर्यायबुद्धि है, हेय है। इन्द्रियज्ञान पराधीन है, क्रमशः कार्य करता है। इसलिये छोड़ने योग्य है। जो ज्ञान ध्रुवस्वभावी स्व-द्रव्यके आश्रयसे कार्य करे वह ज्ञान धर्म है, और वह ही उपादेय है।

इन्द्रियज्ञान दुःखरूप है

यह आत्मा है उसका ज्ञान स्वभाव है। इन्द्रियाँ जड़ है, पुद्गल है, परद्रव्य है, आत्मद्रव्य नहीं है। इन्द्रियोंके लक्षसे ज्ञान होता है वह शुभाशुभभाव उत्पन्न करता है। खाने-पीनेका पदार्थ, व्यापार आदिकी ओर इन्द्रियज्ञान लक्ष करे तो पापकी उत्पत्ति होती है और देव-गुरु-शास्त्रकी ओर इन्द्रियज्ञान लक्ष करे तो पुण्यकी उत्पत्ति होती है, अर्थात् कि विकारकी ही उत्पत्ति होती है, अधर्म होता है, दुःख होता है। धर्म अथवा सुखकी उत्पत्ति होती नहीं है। केवल चैतन्य त्रिकाली शुद्ध स्वरूप है उसके आश्रयसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह वास्तवमें प्रत्यक्ष है, वह सुख है, धर्म है। यहाँ केवलज्ञानको प्रत्यक्ष कहा है लेकिन नीचेकी दशावाला जीव ऐसी श्रद्धा करके स्वयंके स्वभावकी ओर ज्ञानकी पर्यायको झुकाये और अतीन्द्रिय कार्य करे तो उसे आंशिक ज्ञान प्रकट होता है–धर्म होता है और उसके फलमें केवलज्ञान प्राप्त होता है।

सदा दाह चित्तमें कुतृष्णा बढावे,
जगत दुःख भोगे, प्रभू हम बतावे।१३।

अज्ञानी जीव त्रिकाली स्वभावको भूलकर वर्तमान पर्यायमें परपदार्थको भला-बुरापनेकी कल्पना करके संसारको उपस्थित करता है। पाँच इन्द्रियाँ स्पर्श, रस, गंध, वर्ण, शब्दके स्वभाववाली है और आत्मा ज्ञान, दर्शन, चारित्र स्वभाववाला है। दोनोंका स्वभाव पृथक्-पृथक् है, इसलिये यह इन्द्रियाँ आत्मस्वभावका स्पर्श करती ही नहीं है। आत्माके ज्ञानका सम्बन्ध गुणी ऐसे आत्मद्रव्यके साथ है लेकिन ज्ञानको जड़ इन्द्रियके साथ सम्बन्ध मानना वह अधर्म है। स्वयंके स्वभावका आश्रय छोड़कर जो ज्ञानकी पर्याय इन्द्रियका आश्रय लेने जाती है वह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है उससे शुभाशुभभाव होते है। यहाँ पर्यायबुद्धिका त्याग कराके द्रव्यदृष्टि-स्वभावदृष्टि करानेकी बात है।

''परका अर्थात् स्वभावका सम्बन्ध तोड़ दे और स्वका-त्रिकालीका सम्बन्ध जोड़ दे।''

वर्तमानमें छद्मस्थ जीव स्वयंके चैतन्यस्वभावको छोड़कर पर वस्तुका ज्ञान करता है तब उसमें मन आदि छह निमित्त होते हैं।

(१) अंतःकरण = द्रव्यमन। (२) इन्द्रिय = पाँच द्रव्य इन्द्रियाँ।

(३) परोपदेश = अन्यका उपदेश (गुरुका उपदेश अथवा भगवानकी वाणी।)

(४) उपलब्धि = परपदार्थको जाननेकी लब्धरूप शक्ति।

(५) संस्कार = पूर्व पर्यायमें जागृत पदार्थकी मान्यता।

(६) प्रकाश = प्रकाश।

इन छहोंके लक्षसे होनेवाला ज्ञान परोक्ष है। इन्द्रियाँ, वाणी आदि परपदार्थसे ज्ञानको सुख होता है यह बात है ही नहीं। लेकिन उसके लक्षसे होनेवाला ज्ञान भी परोक्ष है। दुःखदायक है, हेय है।

विशिष्टता यह है कि अंतःकरण, इन्द्रियाँ, परोपदेश और प्रकाश तो परवस्तु ही है। लेकिन यहाँ उपलब्धि तथा संस्कार जो आत्माके ज्ञानगुणकी अवस्था है वह परपदार्थको जाननेके क्षयोपशमवाली होनेसे उसे भी यहाँ परवस्तु मानी है , उसका स्पष्टीकरण यह है कि वह अपूर्ण पर्याय है, हानि-वृद्धि होनेसे वह पलटती रहती है। अंश है उसके लक्षसे जो ज्ञान होता है वह भी परोक्ष है। उसके लक्षसे आत्मज्ञान अथवा धर्म होता नहीं है। अथवा साधकदशामें भी प्रत्यक्ष ज्ञानी उत्तरोत्तर निर्मलता अपूर्ण पर्यायके लक्षसे होती नहीं है।

(शेष देखे पृष्ठ १६ पर)

जु है मोक्ष बन्धं, व है हेतु उनका,
बंधा अर खुला जिय, फलं जो छुटनका;

श्री इष्टोपदेश पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

प्रवचन नं.-३७ (गाथा-३३-३४)

स्व-परका पृथक्पना

जीव समझा हुआ तब कहा जायेगा कि सर्वज्ञोंने, शास्त्रने और गुरुने जो स्वपरकी भिन्नता करनेको कहा है उसी प्रकार भेदज्ञान करे तब समझा कहा जाय। देव-शास्त्र-गुरु जो भाव कहेना चाहते हैं उसे पात्र जीव यथार्थ ग्रहण कर उस भावको प्रकट करता है।

''लाख बातकी बात निश्चय उस ध्यावो'' सर्वज्ञ भगवान, गुरु, शास्त्र सभी एक ही सार कहते है 'राग और आत्माका भेदज्ञान कीजिये'। इसी भावको ही पात्र जीव ग्रहण कर लेते है।

भगवान आत्मा नित्यानंद स्वरूप है। उसमें पुण्य-पापके विकल्पों वह अनित्य क्षणिक और स्वभावसे विपरीत है, उस विपरीत और अविपरीत स्वभावमें भेद करके उसका बारम्बार अभ्यास करने पर स्वाधीन अतीन्द्रिय आनंद प्राप्त होता है, वह ही जीवका धर्म है। यह धर्मकी संक्षिप्त और सरल व्याख्या है। आहाहा..! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वरने सभी शास्त्रोंका सार इस एक श्लोकमें रख दिया है।

पूज्यपादस्वामी कहते है कि हे पात्र शिष्य ! तू ज्ञान स्वरूप चैतन्यमूर्ति प्रभुके अनुभवसे रागको पृथक् कर ! वास्तवमें तो स्वभावमें एकाग्रता होने पर राग उपस्थित रहता ही नहीं है। उसे रागसे तू पृथक् कर–ऐसा कहा है।

आत्मा ज्ञायक चैतन्यज्योत है और रागादि उससे पर है ऐसा कहकर आत्मा और राग दोनों वस्तुको साबित किया है। एक ओर राम और एक ओर गाँवकी भांति यहाँ एक ओर ज्ञानादि अनंत गुणका पिंड भगवान चैतन्य और एक ओर राग, विकल्प आदि सभी है। इन दोनोंकी पृथक्ताका अभ्यास करते-करते किसी भी प्रकारके कष्ट बिना जीव अतीन्द्रिय स्वाधीन आनंदका अनुभव करता है। उपवास आदिके कष्ट सहन करे तो आनंद हो–ऐसा नहीं है।

जो करनेका था वह भगवानने कह दिया–'भेदज्ञान करो' वह एक ही मार्ग है। उपवास, व्रतादि साथमें होते है लेकिन वह कोई मार्ग नहीं है। मुनिराजने यहाँ संक्षिप्तमें अधिक

प्रभू स्याद्वादी, तुम्हीं ठीक कहते,
न अेकांत मतके कभी पार लहते।१४।

मर्म समझाकर सारभूत बात लिखी है।

अब आगे शिष्य प्रश्न पूछता है कि 'मोक्ष सुखके अनुभवके विषयमें गुरु कौन होता है?' उसके उत्तरमें ३४वाँ श्लोक कहते हैं।

स्वस्मिन्सदाभिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।
स्वयं हित (तं) प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः॥३४॥
निज हित अभिलाषी स्वयं, निज हित नेता आत्म,
निज हित प्रेरक छे स्वयं, आत्मानो गुरु आत्म. ३४.

जो सत्के कल्याणका वांछक है, और जिसे सत्की वांछा-इच्छा हुई उसके हितका उपाय बतलानेवाला है तथा हितका जो प्रवर्तक है उसे गुरु कहा जाता है।

वास्तवमें तो जब आत्मा स्वयं कल्याणका वांछक होता है तब उसे कल्याण कैसे हो उसका उपाय स्वयं स्वयंको बताता है कि भाई ! रागसे पृथक् हो और स्वभावमें एकाग्र हो। वह मोक्षसुखके हितका उपाय है ऐसा स्वयं स्वयंके हितका रास्ता दिखाकर उसमें प्रवर्तन करता है इसलिये आत्माका गुरु आत्मा स्वयं ही है।

सर्वज्ञ कहते हैं, शास्त्र कहता है, गुरु कहते है लेकिन वह भाव जब तक स्वयंके भावसे न बैठे तब तक आत्मा कहाँसे प्राप्त हो ? जब स्वयं स्वयंको समझाये कि अरे आत्मा ! तू आनंद स्वरूप आत्माकी अभिलाषा कर और उस अभिलाषाके उपायमें राग और विकल्पसे पृथक् हो जा, तो वह शांतिका उपाय है–ऐसा स्वयं स्वयंको जानता है। देव-शास्त्र-गुरु तो बहुत समझाते है लेकिन जीव स्वयं ही रागसे भिन्न होकर स्वभावकी प्राप्तिका उपाय न करे तो देव-शास्त्र-गुरु क्या करे? इसलिये आत्मा स्वयं ही अपना गुरु है।

बापु ! तेरा मार्ग ऐसा है कि जिसका दुनियाके साथ मेल नहीं है। प्रभु कहते है कि इस मार्गको तू दुनियाके साथ मिलान मत करना। इस मार्गकी जात ही कोई अलग है।

इस जीवको भूतकालमें अनंतबार साक्षात् तीर्थंकरका योग भी मिला है और भगवानकी दिव्यध्वनिमें आत्माके हितका उपाय भी सुना है लेकिन स्वयं अंतरमें हितका उपाय न करे, कल्याणका इच्छुक होकर हितकी ओर आगे न बढ़े तो तीर्थंकर भी उसका क्या करे?

जहां इन्द्र भी हारता गुणकथनमें,
कहां शक्ति मेरी तुझी थुति करनमें;

श्रोता :–प्रथम तो हितकी बात देव-गुरु पाससे सुने तभी तो हितका उपाय करेगा ?

पूज्य गुरुदेवश्री :–स्वयं हितका रास्ता ले तो देव-गुरुके उपदेशको निमित्त कहा जाता है। स्वयंकी जातसे समझे तभी उसे गुरुकी किमत होगी कि अहा ! यह तो सत्य बात कहनेवाले है। निश्चय प्रकट हो उसे गुरुके प्रति विनय और भक्तिका भाव (व्यवहार) उत्पन्न होता है। सत् की समझ बिना विनय भक्तिका यथार्थ व्यवहार भी आता नहीं है।

हे आत्मा ! भगवान तो ऐसा उपदेश देते है लेकिन तुझे समझमें आता है कि नहीं ? उसका श्रद्धान कर भाई ! रागसे पृथक् तेरा तत्त्व है उसका अभ्यास कर ! अभ्यास करके उसमें ठहरना वह तेरा कार्य है वह अन्य कोई कर सके ऐसा नहीं है।

लोकोक्ति है कि 'प्रसूता स्त्रीमें जोर न हो तो दाई क्या करे ?' वैसे शिष्य स्वयं तैयार न हो तो गुरु उसका क्या करे ? इसलिये ही यहाँ इष्टोपदेशमें कहा है कि तू तेरा गुरु बन तो तेरा हित होगा और तभी ही तुझे गुरुका विनय-भक्तिका व्यवहार आयेगा। निश्चय प्रकट हो तो व्यवहार आता है यह बात यहाँ सिद्ध होती है।

परसे और रागसे छूटकर स्वाभाविक सुख प्रकट करनेकी जिसे इच्छा है उसकी यहाँ बात चल रही है। जिसे अभी तक पुण्यके फलमें मिलनेवाले संयोगोंमेंसे सुख लेनेकी इच्छा है उसकी बात नहीं है। जिन्हें ''कार्य एक आत्मार्थका, अन्य नहीं मनरोग'' ऐसी अभिलाषा है उसे ही यथार्थ अभिलाषा है और वह ही हितका यथार्थ उपाय कर सकता है।

अहा ! शाश्वत सुखकी इच्छा करनेवाला आत्मा स्वयं है और उसके उपायरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रका स्वरूप बतानेवाला भी स्वयं है। बतानेवाला भी स्वयं है और जाननेवाला भी स्वयं ही है। इस प्रकार हितका आकांक्षी भी स्वयं ही है, हितका उपाय बतानेवाला भी स्वयं है और हितरूपसे प्रवर्तनेवाला भी स्वयं ही है इसलिये वास्तवमें आत्मा ही गुरु है और आत्मा ही स्वयंका शिष्य है।

कोई साधुका नाम धारण करे, कोई ब्रह्मचारी नाम धारण करे, कोई पंडित नाम धारण करे लेकिन उसके पीछे उसे प्रसिद्धिकी ही भावना होती है, मान प्राप्तिकी इच्छा होती है उसके अंतरमें होली जल रही है, उसे वास्तवमें सत् सुखकी कोई ईच्छा नहीं है, मानकी इच्छा है, यह तो अनादिसे करता ही आया है उसमें नवीन क्या किया ?

तदपि भक्तिवश पुण्य यश गान करता;
प्रभू दीजिये नित शिवानन्द परता।१५।

आत्मा स्वयं पूर्णानंदकी खदान है, उसमें से ही मोक्ष प्रकट होगा शेष 'तारे ते तरे' (जो स्वयं पार हो जाय वह अन्यको पार करा दे) यह लोकोक्ति मिथ्या है। जो स्वयं पार हो वह अन्यको भी पार करा दे) 'तरे ते तारे' यह भी निमित्तका कथन है। पात्र जीव हो वह स्वयंके पुरुषार्थसे पार उतरता है तभी देव-शास्त्र-गुरु उसे निमित्त कहा जाता है।

पात्र जीवको एक ही अभिलाषा होती है कि मुझे तो एक सत् चाहिये। शाश्वत मोक्षकी ही मुझे अभिलाषा है, शेष संयोग तो असार है, विकार भी असार है, वह मुझे कुछ नहीं चाहिये। जगतकी कीर्ति-यश मुझे नहीं चाहिये। इस प्रकार जिन्हें एकमात्र सत्की ही अभिलाषा है उसको कहते है कि सत्प्राप्तिका उपाय भी तुझमें ही है।

भाई ! तू बाह्य सभी अभिलाषा छोड़ दे और एक सत्...सत्...सत्... शाश्वत सुखरूप परसे बिलकुल मुक्त और स्वसे परिपूर्ण ऐसे मोक्षकी अभिलाषा कर ! उसका उपाय जान और उसमें प्रवर्तन कर ! ऐसी अभिलाषा करनेवाला और उसका उपाय खोजकर उसमें प्रवर्तन करनेवाला तू स्वयं ही स्वयंका गुरु है।

श्रोता : जैसे पारसमणि लोहेको सुवर्ण बना देता है किन्तु पारसमणिको नहीं वैसे आप गुरु हमें भी गुरु बना रहे हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : पारसमणि भी जंग लगा हुआ लोहेको सुवर्ण बनाता नहीं है, अच्छा लोहा हो उसे ही सुवर्ण बनाता है उसी प्रकार पात्र जीव हो वह ही स्वयंका गुरु बन सकता है, अपात्र जीव स्वयंका गुरु बनता नहीं है। इसके लिये जीवको स्वयंकी पात्रता चाहिये।

जानपना विशेष हो के न हो, बोलना आये के न आये यह सभी बातोंको एक ओर रखकर यहाँ तो एक ही जिसको मोक्षकी अभिलाषा है और मोक्षका उपाय खोज रहा है और उसमें ही प्रवर्तता है उसे ही गुरु कहा है।

मोक्ष अर्थात् परसे और रागसे रहित परमानंद स्वरूप आत्माका आनंद। उसकी ही जिसे अभिलाषा है और मोक्षके उपायोंको जाननेका प्रयत्न करता है और उसे जानकर स्वयं स्वयंको बतलाता है कि स्वरूपमें ठहरना और बाह्यसे हटना ही एक मोक्षका उपाय है, इस प्रकार जानकर उसमें जो प्रवर्तन करता है वह ही स्वयंका गुरु है और वह निश्चय गुरु स्वयं ही होता है, उसे ही व्यवहार गुरुका बहुमान, विनय और भक्तिका भाव आता है।

(क्रमशः)

श्री अभिनंदन जिन-स्तुति	आतमगुण वृद्धिते नाथ अभिनन्दना, धर अहिंसा वधू, क्षांति सेवित घना;

अध्यात्म संदेश

(रहस्यपूर्ण चिट्ठी पर परम पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन)

सम्यग्दृष्टिकी अंतरंगदशाका वर्णन
सविकल्पता या निर्विकल्पता
दोनों वक्त सम्यक्त्व एकसा है

सम्यग्दृष्टिका ऐसा मति-श्रुतज्ञान जब स्वानुभवमें प्रवर्ते तब तो निर्विकल्पता होती है और जब बाहरके शुभाशुभ कार्यमें प्रवर्ते तब सविकल्पता होती है; सविकल्पता हो या निर्विकल्पता हो—सम्यग्दर्शन तो दोनों समय एकसा ही रहता है। परंतु ऐसा नहीं कि–किसीको निर्विकल्पताके समय सम्यग्दर्शन विशेष निर्मल हो जाय और सविकल्पताके समय उसमें कुछ मलिनता हो जाय। सविकल्पता होने पर भी किसीको क्षायिक सम्यक्त्व भी हो। किसीको निर्विकल्पता होने पर भी क्षायोपशमिक सम्यक्त्व हो। अतएव सम्यक्त्वकी निर्मलताका या निश्चय-व्यवहारका माप सविकल्पता-निर्विकल्पताके ऊपर निर्भर नहीं है। हाँ, इसमें इतना नियम अवश्य है कि सम्यक्त्वकी उत्पत्तिके कालमें निर्विकल्प अनुभूति अवश्य होती है, और मिथ्यादृष्टिको तो निर्विकल्प अनुभूति कभी नहीं होती। परंतु सम्यग्दृष्टिको निर्विकल्प उपयोग सदैव रहा करे–ऐसा इन दोनोंका परस्पर अविनाभावीपना भी नहीं है।

यहाँ यह प्रश्नका समाधान कर रहे हैं कि शुभ-अशुभमें जब उपयोग वर्तता हो तब सम्यक्त्वका अस्तित्व कैसे बना रहे ?–भाईश्री ! सम्यक्त्व है सो उपयोग नहीं है, सम्यक्त्व वह तो प्रतीति है। उपयोग जब शुभाशुभमें हो तब भी शुद्धात्माका अंतरंग श्रद्धान तो धर्मीको वैसाका वैसा रहता है; स्व-परका भेदविज्ञान हुआ है वह तो उस वक्त भी वर्तता है। यह शुभ-अशुभ मेरा स्वभाव नहीं, मैं तो शुद्ध चैतन्यस्वभाव ही हूँ–ऐसी निश्चय अंतरंग श्रद्धा धर्मीके शुभ-अशुभके समयमें भी मिटती नहीं। जैसे गुमाश्ता सेठके कार्यमें प्रवर्तता है, नफा-नुकसान होने पर हर्ष-विषाद भी करता है, फिर भी अंतरमें उसे भान है कि इस नफे-नुकसानका स्वामी मैं नहीं। यदि सेठकी मिल्कियतको अपनी ही मान ले तब तो वह चोर कहलायेगा। वैसे धर्मात्माका उपयोग शुभ-अशुभमें जाता है, शुभ-अशुभरूप परिणमता है तो भी अंतरमें उसी वक्त उसको श्रद्धान है कि ये कार्य मेरे नहीं, इनका स्वामी मैं नहीं;

आतममय ध्यानकी, सिद्धिके कारणे,
होय निर्ग्रंथ पर, दोय विधि टारणे।१६।

शुद्धोपयोगके समय जैसी प्रतीति थी, शुभाशुभ उपयोगके समय भी वैसी ही प्रतीति शुद्धात्माकी वर्तती है; अतएव शुभ-अशुभके समय भी उसे सम्यक्त्वमें बाधा नहीं आती। यदि परभावोंको अपना माने या देहादि परद्रव्यकी क्रियाको अपना माने तो तत्त्वार्थश्रद्धानमें विपरीतता हो जानेसे मिथ्यात्व हो जाय।

एक बात और है कि, निर्विकल्पताके समयमें निश्चयसम्यक्त्व और सविकल्पताके समयमें व्यवहारसम्यक्त्व–ऐसा भी नहीं है। चौथे गुणस्थानमें मिथ्यात्वको नष्ट करके सविकल्प स्वानुभूतिपूर्वक शुद्धात्मप्रतीतिरूप जो सम्यग्दर्शन प्रकटा है वह निश्चयसम्यग्दर्शन है; और यह निश्चयसम्यग्दर्शन सविकल्प या निर्विकल्प दोनों दशामें एकरूप ही है। स्वानुभवके समय तो निर्विकल्पता होती है। सम्यग्दृष्टिको जब सम्यक्त्वकी उत्पत्ति हुई उस वक्त तो स्वानुभव एवं निर्विकल्पता हुई, परन्तु ऐसे निर्विकल्प-स्वानुभवमें सदा काल वह नहीं रह सकता, निर्विकल्पदशा ज्यादा काल नहीं टिकती; बादमें सविकल्पदशामें आनेपर शुभ या अशुभमें उपयोग जाता है, और शुद्धात्म प्रतीति तो उस वक्त भी चालू ही रहती है।–ऐसी सम्यक्त्वी-महात्माकी स्थिति है। अपने शुद्ध आत्मभावके अलावा अन्य किसीके स्वामित्वभावसे वह कभी नहीं परिणमता।

धर्मीको शुभभावके समय भी सम्यक्त्व होता है–ऐसा कहा, इससे ऐसा मत समझ लेना कि यह शुभभाव करते करते सम्यक्त्व हो जायगा। यदि उस शुभभावको स्वभावकी चीज मानकर उसका स्वामित्व करें अथवा उस शुभभावको सम्यक्त्वका कारण मानें तो उस जीवको शुभभावके साथ सम्यक्त्व नहीं रहता किन्तु शुभके साथ उसे मिथ्यात्व होता है। शुभके समय जिसे शुभसे रहित ऐसा शुद्धात्माकी श्रद्धा वर्तती है वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन होनेके बाद यदि शुभाशुभपरिणाम हो ही नहीं तब तो तुरन्त ही वीतरागता व केवलज्ञान हो जाय। परन्तु ऐसा सबको नहीं होता। सम्यग्दर्शनके बाद भी जब तक अपने स्वरूपमें पूर्ण लीनता न हो तब तक अपनी चारित्रदशाकी कमीके कारण धर्मीके शुभ-अशुभभावरूप परिणमन होता है। धर्मी उसको अपना स्वभाव नहीं समझता, एवं कर्मने वह कराया ऐसा भी नहीं मानता, अपने गुणका परिणमन इतना कम है अतएव यह अपनी परिणतिका अपराध है–ऐसा वह समझता है। इस प्रकार सम्यक् प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन उसको वर्तता है।

तन अचेतन यही, और तिस योगते,
प्राप्त संबंधमें, आपपन मानते;

इस तरह सम्यग्दृष्टिकी सविकल्पदशा दिखायी, और उस सविकल्पदशामें भी सम्यक्त्व रहता है–ऐसा समझाया। अब वह सम्यग्दृष्टि सविकल्पतामेंसे फिर निर्विकल्प कैसे होता है यह दिखाते हैं।

निर्विकल्प-स्वानुभूति होनेका सुंदर वर्णन
स्वरूपके चिन्तनमें आनंदतरंग उठती है...रोमांच होता है

''अब सविकल्प हीके द्वारसे निर्विकल्प होनेका विधान कहते हैं : वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करनेको उद्यमी होता है; वहाँ प्रथम स्व-पर स्वरूपका भेदविज्ञान करे; नोकर्म-द्रव्यकर्म-भावकर्मसे रहित चैतन्यचित्चमत्कारमात्र अपना स्वरूप जाने; पीछे परका भी विचार छूट जाय, और केवल स्वात्मविचार ही रहता है; वहाँ निजस्वरूपमें अनेक प्रकारसे अहंबुद्धि धरता है, 'मैं चिदानंद हूँ, शुद्ध हूँ, सिद्ध हूँ' इत्यादि विचार होनेपर सहज ही आनंद-तरंग उठती हैं, रोमांच होता है; इसके बाद ऐसा विचार भी छूट जाय और केवल चिन्मात्रस्वरूप भासने लगे, वहाँ सर्व परिणाम उसरूपमें एकाग्र होकर प्रवर्ते; दर्शन-ज्ञानादिकका वा नय-प्रमाणादिकका विचार भी विलय हो जाय। सविकल्पतासे जिस चैतन्यस्वरूपका निश्चय किया था उसमें व्याप्य-व्यापक होकर ऐसा प्रवर्ते कि जहाँ ध्याता-ध्येयपना दूर हो जाय। ऐसी दशाका नाम निर्विकल्पअनुभव है।''

देखो, यह स्वानुभवकी अलौकिक चर्चा। यहाँ तो एकबार जिसको स्वानुभव हो गया है और फिरसे वह निर्विकल्पस्वानुभव करता है उसकी बात की है; परन्तु पहलीबार जो निर्विकल्प-स्वानुभवका उद्यम कर रहा है वह भी इसी प्रकारसे भेदज्ञान व स्वरूपचिन्तनके अभ्यास द्वारा परिणामको निजस्वरूपमें तल्लीन करके स्वानुभव करता है। इस निर्विकल्पअनुभवके समय आत्मा अपने आपमें व्याप्य-व्यापकरूपसे ऐसा तल्लीन वर्तता है –अर्थात् द्रव्य-गुण-पर्यायकी ऐसी एकता हो जाती है, कि ध्याता-ध्येयका भेद भी वहाँ नहीं रहता; आत्मा अपने आपमें लीन होकरके अपना स्वानुभव करता है। वहाँ स्वानुभवके परम आनन्दका भोगना है परंतु उसका विकल्प नहीं है। एकबार ऐसा निर्विकल्प अनुभव जिसके हुआ हो उसके ही निश्चयसम्यक्त्व है ऐसा जानना। ऐसे अनुभवकी रीति यहाँ दिखलाते हैं।

यहाँ सम्यग्दृष्टि जिसप्रकारसे निर्विकल्प-अनुभव करता है यह दिखाया है, इसके

जो क्षणिक वस्तु है, थिरपना देखते,
नाश जग देख प्रभु, तत्त्व उपदेशते।१७।

उदाहरणके अनुसार दूसरे जीवोंको भी निर्विकल्प-अनुभव करनेका यही उपाय है–ऐसा समझ लेना।

सम्यग्दृष्टिको शुभाशुभके समय सविकल्पदशामें सम्यक्त्व किसप्रकार वर्त रहा है यह पहले समझाया; अब यह कहते हैं कि 'वह सम्यग्दृष्टि कदाचित् स्वरूपध्यान करनेका उद्यमी होता है'–चौथे गुणस्थानमें सम्यग्दृष्टिको बारम्बार निर्विकल्पध्यान नहीं होता, परन्तु कभी कभी शुभाशुभप्रवृत्तिसे दूर होकर, शांत परिणामसे स्वरूपका ध्यान करनेका उद्यमी होता है, जिस स्वरूपका अपूर्व स्वाद स्वानुभवमें चखा है उसीका फिर फिर अनुभवन करनेके लिये वह उद्यम करता है। तब प्रथम तो स्व-परके स्वरूपका भेदविज्ञान करे अर्थात् पहले जो भेदज्ञान किया है उसीको फिरसे चिन्तनमें लावे; यह स्थूल देहादि तो मेरेसे स्पष्टतः भिन्न है, इसके कारणरूप जो भीतरके सूक्ष्म द्रव्यकर्म वह भी आत्मस्वरूपसे अत्यंत भिन्न है, दोनोंकी जाति ही भिन्न है। मैं चैतन्य और वह जड़, मैं परमात्मा और वह परमाणु–ऐसे दोनोंकी भिन्नता है; और भिन्नता होनेसे कर्म मेरा कुछ नहीं करता। अब अन्दरमें, आत्माकी पर्यायमें उत्पन्न होनेवाले राग-द्वेष-क्रोधादि भावकर्म उनसे भी मेरा स्वरूप अत्यंत भिन्न है; मेरे ज्ञानस्वरूपकी और इन रागादि परभावोंकी जाति ही पृथक् है; रागका वेदन तो आकुलतारूप है और ज्ञानका वेदन तो शांतिमय है।–ऐसे बहुत प्रकारसे द्रव्यकर्म-नोकर्म व भावकर्मसे अपने स्वरूपकी भिन्नताका चिन्तन करे; इन सबसे भिन्न मैं चैतन्यचमत्कारमात्र हूँ–ऐसा विचार करे। ऐसे वस्तुस्वरूपके निर्णयमें ही जिसकी भूल हो वह तो स्वरूपके ध्यानका सच्चा उद्यम नहीं कर सकता। क्योंकि जिसका ध्यान करनेका है उसकी पहले पहिचान तो होनी चाहिये न ! पहिचाने बिना ध्यान किसका ? इस प्रकार स्व-परकी भिन्नताके विचारसे परिणामको जरा स्थिर करे, बादमें परका विचार छूटकर केवल निजस्वरूपका ही विचार रहे। जिस स्वरूपका पहले अनुभव किया है अथवा जिस स्वरूपको निर्णयमें लिया है उसकी अत्यंत महिमा ला-लाके उसीके विचारमे मनको एकाग्र करता है। परद्रव्योंमेंसे व परभावोंमेंसे तो अहंबुद्धि छोड़ दी है, और अपने निजस्वरूपको ही अपना जाने इसीमें अहंबुद्धि की है। मैं चिदानंद हूँ, मैं शुद्ध हूँ, मैं सिद्ध हूँ, मैं सहज सुखस्वरूप हूँ, अनन्त शक्तिका निधान मैं हूँ, सर्वज्ञस्वभावी मैं हूँ इत्यादि प्रकारसे अपने निजस्वरूपमें ही अहंबुद्धि कर-करके इसको चिंतवे है। (क्रमशः) ✻

क्षुत त्रषा रोग प्रतिकार बहु ठानते,
अक्ष सुख भोग कर तृप्ति नहिं मानते;

अनुभवप्रकाश पर प्रवचन

(गतांकसे आगे)

प्रत्येक गुणकी अनन्तशक्ति है। उसकी अनन्त पर्यायें हैं। एक गुण अपनेको उपादान है और अन्य अनन्त निमित्त हैं। ज्ञानगुणने अनन्त गुणोंको जाना। ज्ञानकी एक समयकी पर्याय अनन्त गुणोंको—दर्शन, चारित्रादिको जान लेती है, इसलिए अनन्तगुणोंको धारण करती है। चारित्रगुणकी पर्याय अनन्त गुणोंको स्थिरतामें धारण कर रखती है। आनन्दकी पर्याय अनन्त गुणोंका आनन्द धारण कर रखती है। सम्यग्दर्शन पर्याय अनन्तगुणोंकी प्रतीति धारण कर रखती है। —इसप्रकार एक–एक गुणकी उपादानशक्ति अनन्त है और एक गुण दूसरे अनन्त गुणोंको निमित्त होता है—इसप्रकार अनन्तको निमित्त होनेकी शक्ति प्रत्येक गुणमें विद्यमान है। इसप्रकार प्रत्येक गुणकी अनन्त पर्यायें हैं—ऐसी प्रतीति करो।

वस्तुमें अनन्त गुण हैं, एक गुणमें अनन्त शक्ति है तथा एक गुणकी अनन्त पर्यायें हैं। जितने समय उतनी पर्यायें हैं। केवलज्ञानकी एक पर्यायमें सम्पूर्ण लोकालोक ज्ञात हो जाता है। एक ज्ञानपर्यायमें अनन्त गुणोंका सामर्थ्य, अनन्त गुणोंका ज्ञान तथा अनन्त पर पदार्थोंका ज्ञान आ जाता है। लोकालोक है इसलिए ज्ञान है—ऐसा नहीं है। ज्ञान निरपेक्षरूपसे कार्य करता है। प्रत्येक आत्मा अपनी प्रभुत्वशक्तिसे परिपूर्ण है। अनन्त गुण अनन्त महिमाको धारण करते हैं। ऐसी निजधर्म महिमाको कहाँ तक कहा जाए ?

एक देश निजधर्म करनेसे संसार पार होता है। आत्मा आनन्दकन्द है; ऐसे आत्माका अंशतः आनन्द आया और स्वरूपाचरणचारित्र प्रकट हुआ उसे केवलज्ञान प्रकट हुए बिना नहीं रहता। जैसे दूजका उदय होने पर पूर्णिमा हुए बिना नहीं रहती, वैसे ही सम्यग्दर्शनरूपी दूज अथवा अंशतः शुद्धता प्रकट होने पर सर्व शुद्धदशा प्रकट होती है। सम्यग्दर्शन होनेपर सिद्धपद होता ही है, इसलिए उसकी अनन्त महिमा है। जिस भावसे तीर्थंकर नामकर्मका बन्ध होता है वह शुभभाव आस्रव है, उसकी महिमा नहीं है परन्तु जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान प्रकट हुआ उसकी महिमा है। वह ज्ञान बढ़कर केवलज्ञान होगा। इसलिए आत्माके श्रद्धा–ज्ञान करके निजधर्मधारी परमेश्वरपद प्रकट करो।

थिर नहीं जीव तन हित न हो दौडना,
यह जगत्‌द्रप भगवान विज्ञापना।१८।

ऐसे निजधर्मकी धारणा कैसे होती है ? आत्माके अनुभवसे निजधर्मकी धारणा होती है। आमके ज्ञान बिना आमका ख्याल नहीं आता, उसीप्रकार आत्माके ज्ञान बिना आत्माका ख्याल नहीं आता। आत्मा रागरहित है—ऐसा ज्ञान करे तो अनुभव हो। धारणा धारण कर रखना, वह अनुभवसे होता है। स्वभावशक्तिकी प्रतीति एवं रमणतासे अनुभव होता है। व्यवहारसे, वज्रकायसे अथवा पुण्यसे अनुभव नहीं होता। इसलिए अनुभवसार सिद्धि हेतु निजधर्म अधिकार कहा।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—सम्यग्दर्शन होने पर तुरन्त ही सर्वथा रागरहित दशा प्रकट हो जाती होगी या राग शेष रहता होगा ?

समाधान :—साधकदशामें ज्ञानधारा और कर्मधारा दोनों प्रवर्तती हैं। बारहवें गुणस्थान तक दोनों धाराएँ रहती हैं। बारहवेंमें राग नहीं है परन्तु ज्ञान अल्प है इतनी कर्मधारा है। आत्माके श्रद्धान–ज्ञान सम्यक्स्वरूप हैं वह ज्ञानधारा है और जितना राग शेष है उतनी राग–द्वेषधारा है।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय गुणस्थानमें बहिरात्मपना है। स्वयं आत्माका अनुभव न करके बाह्यमें अटकता है वह बहिरात्मा है, आत्माका अंशतः अनुभव करे वह अंतरात्मा है, पूर्णदशा प्रकट करे वह परमात्मा है। शक्तिरूपसे सब परमात्मा ही हैं—शरीर, मन, वाणी, संयोगोंको अपना माने वह बहिरात्मा है। स्वरूपकी शक्तिका विश्वास करे और अंशतः निर्मल पर्याय प्रकट हो वह अंतरात्मा है और पूर्ण शुद्धदशा प्रकट हो वह परमात्मा है।

अल्प धर्म विकसित हुआ है और अल्प विकसित नहीं हुआ—ऐसी दशाको मिश्रदशा कहते हैं।

मैं आत्मा अखण्डानन्द हूँ, आनन्दकन्द हूँ—ऐसी श्रद्धा हुई है परन्तु राग–द्वेष अभी शेष हैं, कषायभाव सर्वप्रकारसे दूर नहीं हुआ है। जितना कषाय अंश है उतनी राग–द्वेष धारा है। श्री समयसार कलश ११० में जो बात है उसका यह स्पष्टीकरण है। आत्मा वस्तुरूपसे परमात्मा है परन्तु पर्यायमें परमात्मा नहीं है। चौथेमें तीन कषाय शेष हैं, पाँचवेंमें दो कषाय बाकी हैं, मुनिको एक संज्वलनकषाय है। दसवें गुणस्थान तक राग होता है। छत पर पहुँचनेके लिए दस सीढ़ियाँ चढ़ना होती हैं, उसीप्रकार आत्माकी पूर्णदशा प्राप्त करनेके लिए चौदह सीढ़ियाँ हैं। उनमें प्रथम तीन तक बहिरात्मपना है, चौथेसे बारहवें तक

लोलुपी भोग जन, नहिं अनीति करे,
दोषको देख जग, भय सदा उर धरे;

अंतरात्मदशा है और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थानमें परमात्मदशा है। दसवेंमें अव्यक्तराग है। यहाँ साधक जीवकी बात करते हैं। जितना राग–द्वेष है उतना बाधक है, आत्माको शुद्ध चिदानन्दकी प्रतीति हुई उतना आनन्द है। श्रद्धा आनन्दका स्वीकार करती है, परन्तु अभी राग शेष रहा है, वह कर्मके कारण नहीं रहा है। मलिन पर्याय सर्वथा दूर नहीं हुई है। दसवें गुणस्थान तक कषायभाव रहा है, त्रैकालिक स्वभावकी श्रद्धा मुख्य है। चौथे गुणस्थानमें पूजा–प्रभावनादिका विकल्प होता है। तथा चौथे और पाँचवेंमें आर्त्त एवं रौद्रध्यान होता है और छठवेंमें आर्त्तध्यान होता है परन्तु उसकी गौणता है, द्रव्यस्वभावकी मुख्यता है इसलिए श्रद्धाभाव मुख्य है और कषायभाव गौण है—इसलिए कषायको गौण कहकर व्यवहार कहकर अभूतार्थ कहा है। सम्यग्दर्शन हुआ कि तुरन्त ही सर्व पर्यायें पूर्ण निर्मल हो गईं—ऐसा नहीं है, जितना राग है उतना दोष है।

यहाँ कहते हैं कि आत्माकी श्रद्धा होना वह मुख्यभाव है। अल्पराग गौण है, अखण्डभाव पूर्ण नहीं हुआ है, परमात्मदशा हुई नहीं है, थोड़ा धर्म प्रकट हुआ है और थोड़ा नहीं हुआ, इसलिए उसे मिश्रधर्म कहते हैं। वह चौथेसे बारहवें तक होता है।(क्रमशः) ✻

(पृष्ठ ५ का शेष भाग) (प्रवचनसार प्रवचन)

मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्यय जो ज्ञानकी क्षयोपशमरूप अवस्था है उस ओरका लक्ष भी लाभका कारण नहीं है और उसके आश्रयसे केवलज्ञान प्रकट होता नहीं है। क्योंकि वह भी अवस्थाएँ–अर्थात् कि अंश है, भेद है। विनाश है। उसके पर लक्ष करनेसे जीवको राग होता है। इस प्रकार ज्ञान रागमें ठहर जाता है इसलिये केवलज्ञान प्रकट होता नहीं है। साधकदशामें भी ज्ञानकी निर्मलता अखंड चैतन्यके आश्रयसे ही होती है, वृद्धि होती है और केवलज्ञानका लक्ष भी अखंडके लक्षसे ही होता है। इसलिये सर्व भेदोंका आश्रय छोड़कर पर निमित्त और वर्तमान ज्ञानगुणके पर्यायकी अपेक्षा छोड़कर एक त्रिकाली शुद्ध चैतन्यद्रव्यका आश्रय करनेसे ही केवलज्ञान प्रकट होता है और वह केवल आत्मामेंसे ही उत्पन्न होता है इसलिये महाप्रत्यक्ष है, और वह ही सुखका कारण है इसलिये वह उपादेय है।

छद्मस्थदशामें केवलज्ञान प्रकट नहीं है तो हीनदशावालेको केवलज्ञान किस प्रकार उपादेय मानना ? तो कहते हैं कि जो साधक जीव वर्तमान बाह्य निमित्तों तथा पर्याय जो अंशरूप है उसका आश्रय छोड़कर स्वयं वर्तमान पर्यायको स्वयंके त्रिकाली स्वभावके साथ जोड़ता है उसे केवलज्ञान प्रकट होता है और सुख होता है इसलिये जिसने स्वयंके शुद्धस्वभावको उपादेय माना उसने केवलज्ञान उपादेय माना कहा जाता है। (क्रमशः)

मुक्तिका मार्ग

(सत्तास्वरूप पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन)

(प्रवचन : ३)

❀ प्रयोजनभूत तत्त्वोंका दिग्दर्शन ❀

(४४) असमानजातीय द्रव्यपर्याय :–आत्मा और शरीर दोनों असमानजातिके हैं, भिन्न भिन्न वस्तुएँ हैं। उन दोनोंके संयोगसे मनुष्य वगैरह पर्याय कहना सो असमानजाति द्रव्यपर्याय है। शरीर और आत्मा असमानजाति है इसलिये आत्मा शरीरका कुछ नहीं कर सकता और शरीरसे आत्माका कुछ नहीं होता। आत्मा शरीरके आश्रयसे धर्म नहीं कर सकता, क्योंकि दोनोंकी जाति अलग है। आत्मा अरूपी ज्ञातास्वरूप वस्तु है, वह देहादिक रूपी जड़ वस्तुका कुछ भी नहीं कर सकता और न परद्रव्य भी आत्माका कुछ कर सकते हैं।

(४५) विभाव द्रव्य व्यंजनपर्याय :—परद्रव्यके निमित्तसे होनेवाली विकारी व्यंजन अवस्थाको विभाव द्रव्य-व्यंजन पर्याय कहते हैं। यह पर्याय जीव और पुद्गलोंमें ही होती है; शेष चार द्रव्योंकी व्यंजनपर्याय शुद्ध ही होती है। विभाव=विकारी, द्रव्य=वस्तु, व्यंजनपर्याय=प्रकट अवस्था। मनुष्य, नारकी और देव इत्यादि आकार है वह जीवकी विभाव व्यंजन पर्याय है और जो स्कन्ध है सो परमाणुकी विभाव व्यंजन पर्याय है।

किसीको मनमें ऐसा हो कि एक घंटेमें तो अनेक बातें आती हैं, इनमेंसे हम कितनी समझे ? उसके लिए कहते हैं कि भाई ! तेरे हित करना है न ? तो हितके लिये मूलभूत सब बात समझनी होगी। जिसके अंतरंगमें जन्म-मरणको दूर करनेके लिए सत्की जिज्ञासा जागृत हो गई है वह घबड़ाता नहीं। इन जीवादि मूल तत्त्वोंका निर्णय किये बिना जन्म-मरणको दूर करनेका उपाय हाथ नहीं लग सकता।

(४६) स्वभाव व्यंजनपर्याय :—पर निमित्तके संयोगके बिना प्रदेशत्वगुणकी जो सहज पर्याय होती है उसे स्वभाव व्यंजन पर्याय कहते हैं। जीवकी सिद्ध पर्याय और एक पृथक् परमाणुकी पर्याय यह दोनों स्वभाव व्यंजनपर्याय हैं। शेष चार द्रव्योंमें सदैव स्वभावव्यंजन पर्याय ही है।

(४७) स्वभाव अर्थपर्याय :—अगुरुलघु गुणके परिणमनको स्वभावपर्याय अथवा स्वभावअर्थपर्याय कहते हैं। वह सूक्ष्म है। संसारी जीव अपने बहीखातेका हिसाब मिलानेके

है विषय मग्नता, दोउ भव हानिकर,
सुज्ञ क्यों लीन हो, आप मत जानकर।१९।

लिए रात्रिजागरण करके भी रोकड़ बाकीका मेल मिलाता है तो यह तो भगवानके बहीखातेका हिसाब मिलाना है, इसमें तो विशेष उद्यम करना चाहिए। अनाभ्यासके कारण यह बात कठिन व महँगी लगती है किन्तु वास्तवमें महँगी नहीं है। यह तो अपने घरकी चीज है, घरकी चीज मंहगी कैसे कही जा सकती है ? समझनेका उद्यम करना चाहिए। केवलज्ञानादि स्वभाव अर्थपर्याय है।

(४८) शुद्ध अर्थपर्याय :—परकी उपाधिसे रहित प्रदेशत्त्वगुणके अतिरिक्त गुणकी पर्यायको शुद्ध अर्थपर्याय कहते हैं। केवलज्ञान शुद्ध अर्थपर्याय है।

(४९) अशुद्ध अर्थपर्याय :—परकी उपाधिसे जो अवस्था होती है वह अशुद्ध अर्थपर्याय है। राग-द्वेषादि पर्याय अशुद्ध-अर्थपर्याय है।

(५०) सामान्य गुण :—जो गुण छहों द्रव्योंमें होते है उसे सामान्यगुण कहतेहैं। अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व, प्रदेशत्व इत्यादि सामान्यगुण हैं। वे सब वस्तुओंमें होते हैं।

(५१) विशेषगुण :—जो गुण समस्त द्रव्योंमें नहीं होते, किन्तु अमुक खास द्रव्योंमें होते है उसे विशेष गुण कहते हैं। आत्माके ज्ञान-दर्शन इत्यादि गुण हैं, वे अन्य द्रव्योंमें नहीं होते। इसलिए ज्ञान-दर्शन इत्यादि आत्माके विशेष गुण हैं; और वर्ण, गन्ध, रस तथा स्पर्श परमाणुके विशेष गुण हैं।

इस प्रकार सर्वज्ञ भगवानके द्वारा कहे गये तत्त्वोंमेंसे यहाँ ५१ रकमोंका कथन किया। सर्वज्ञकथित तत्त्वोंका जब तक यथार्थ निर्णय नहीं कर लेता तब तक जीवको सच्चा श्रावकत्व या मुनित्व वगैरह धर्म नहीं हो सकता, वह जैन (–सम्यग्दृष्टि) भी नहीं है। यदि कोई यथार्थ तत्त्वका निर्णय न करे और अपनी कल्पनासे या किसी अज्ञानी गुरुके कहनेसे तत्त्वके स्वरूपको चाहे जैसा (-विपरीत) मान बैठे तो अनादिकालसे तत्त्वनिर्णयमें जो गड़बड़ी है वह बनी रहेगी और यथार्थ तत्त्वनिर्णयके बिना उसका मिथ्यात्व नहीं छूटेगा, और जन्म-मरण नहीं मिटेगा।

रोग और वैद्य दोनोंको पहचानो

तत्त्वज्ञानका निर्णय करनेके लिए मूल रकम (प्रयोजनभूत रकम) कौन कौनसी हैं ? यह बताया। वीतरागके कहे हुए मार्गमें आत्मस्वभाव क्या है, यथार्थ तत्त्व क्या है, और विपरीत माने हुए तत्त्व क्या है ? इनका निर्णय किये बिना धर्मके नाम पर त्याग करे, तप करे, व्रत,

है विषयलीनता, प्राणिको तापकर,
है तृषा वृद्धिकर, हो न सुखसे वसर;

दान इत्यादिकी शुभ प्रवृत्ति करे और उसमें कषायको कम करे तो पुण्य होगा किन्तु धर्म नहीं होगा। जिससे जन्म-मरण मिटता है ऐसे–वीतरागके द्वारा कहे गये मूल तत्त्वके यथार्थ ज्ञानके बिना जितने व्रत तपादिक कार्य हैं वे सब बिना इकाईके शून्यके समान हैं। जिनधर्म क्या है, और सर्वज्ञ वीतरागके द्वारा कहे गये यथार्थ मत क्या हैं ? इसे जानना होगा। जगतमें सभी जीव अपने माने हुए देवको ही सच्चा देव कहते हैं। धर्मके नाम पर सब कहते हैं कि हम अपने देव-गुरुकी आज्ञाको मानते हैं किन्तु परीक्षाके द्वारा सत्य-असत्यका निर्णय किये बिना यदि कोई सच्चे देव-गुरुको माने तो भी वह सम्यग्दृष्टि नहीं। शुभभाव करते हुए भी वह मिथ्यादृष्टि ही है, इसका विशेष कथन आगे किया जायगा।

निश्चय और व्यवहार दो प्रकारके कथनानुसार सर्वज्ञ भगवानके दो प्रकारके गुण होते हैं। निमित्तका ज्ञान करानेके लिए और अशुभभावको छुड़ानेके लिए भगवानकी वाणीमें भी पराश्रित व्यवहारका कथन आता है। व्यवहारका मतलब है निमित्तसे कथन, और निश्चयका अर्थ है स्वभावसे कथन। बाह्य और अभ्यन्तरके भेदसे भी सर्वज्ञके दो प्रकारके गुण होते हैं। उनमेंसे जितने शरीराश्रित गुणोंके द्वारा भगवानका परिचय कराया जाता है और उनकी स्तुति की जाती है वे सब बाह्य गुण हैं, अर्थात् वे केवल कथनमात्र हैं। निश्चयसे शरीरका वर्णादि एक भी गुण आत्मामें नहीं है; और आत्माका एक भी गुण शरीराश्रित नहीं है; आत्माके ज्ञान-दर्शनादिक गुण स्वाश्रित ही हैं, वे अभ्यन्तर गुण हैं। भगवानकी पहिचान समवसरणसे, सुन्दर शरीरसे या दिव्यध्वनि आदिसे कराई जाती है, किन्तु वह सब शरीर, वाणी इत्यादिक वास्तवमें भगवानका स्वरूप नहीं है। जैसे घीका घड़ा यह कहनेमात्रके लिए व्यवहार है, कहीं घड़ा घीका नहीं हुआ करता, इसीप्रकार व्यवहारसे कहा जाता है कि यह भगवानका शुक्ल शरीर है, किन्तु वास्तवमें शुक्ल शरीर भगवानका नहीं होता, भगवान तो आत्मा है।

भगवानके द्वारा कहे गये निश्चय-व्यवहारका स्वरूप भिन्न-भिन्न है और उसका फल भी अलग अलग ही है। व्यवहारके आश्रयका फल संसार है और निश्चयके आश्रयका फल मोक्ष। ('निश्चयनयाश्रित मुनिवरों प्राप्ति करें निर्वाणकी') भगवानके गुणके दो प्रकार और हैं, एक अभ्युदय और दूसरा निःश्रेयस। अभ्युदयका अर्थ है पुण्यका ठाठ और निःश्रेयसका अर्थ है मोक्ष। वास्तवमें भगवानके पुण्य है ही नहीं, वह तो पुण्य-पाप रहित वीतराग हैं। वचनविवक्षासे अर्थात् वचनोंके द्वारा कहे जाने योग्य संख्यातगुण आत्मामें हैं, और वस्तुस्वरूपकी अपेक्षासे अनन्तगुण हैं। किन्तु वचनों द्वारा अनन्तगुण नहीं कहे जा सकते। ज्ञानके द्वारा निर्णयमें आते हैं।

हे प्रभो! लोकहित, आप मत मानके,
साधुजन शर्ण ले, आप गुरु मानके।२०।

मोक्षमार्गके लिए प्रयोजनभूत तत्त्वोंको यथार्थ निर्णय द्वारा जाने बिना भवभ्रमणका अंत नहीं हो सकता। इसमें बाहरका कुछ करनेकी बात नहीं है, किन्तु अन्तरंगमें सच्ची समझ प्राप्त करने पर जोर दिया गया है। भाई ! तू बिना समझके क्या करेगा ? घरसे बाहर निकलनेके लिए किस दिशाकी ओर चलना चाहिए, इसकी खबर अन्धे आदमीको नहीं हो, और दिशाको जाने बिना यदि वह यों ही चलदे तो सिर दीवालके साथ टक्कर खायेगा। किन्तु यदि उसे कोई दिशा बतला दे, और वह उसके ध्यानमें बैठ जाय कि ठीक नाककी सीधमें सामने दरवाजा है तो यह जानकर फौरन उसके पैर गति करने लगेंगे और उसकी सारी समस्या हल हो जायगी अर्थात् वह घरसे बाहर निकल जाता है। इसीप्रकार इस संसारसे बाहर कैसे निकला जाय ? बाहर निकलनेका रास्ता कौनसा है ? आत्मा क्या है ? उसका धर्म कहाँ होता है, कैसे होता है ? इत्यादिका यथार्थ निर्णय किये बिना, पुरुषार्थकी गति कहाँ की जाय यही समस्या जीवके मनमें बनी रहती है और संशय रहा करता है कि कौनसा मार्ग होगा ? किन्तु यदि वह सच्चे स्वरूपको जान ले तो उसकी ओर पुरुषार्थकी गति हो और संशय दूर हो जाय; इसलिये सबसे पहले सच्ची समझ प्राप्त करनी चाहिए। यही संसारके घटवाससे बाहर निकलनेका रास्ता है।

इस जीवने अनादिकालसे शरीरके प्रपंचको अपना जान रखा है और यह जाननेवाला स्वयं अपनेको न जानकर परमें अपनापन मान बैठा है। इसने अनादिकालसे अपनी ओर लक्ष नहीं किया इसलिये परमें, देहादिमें देहकी क्रियामें और पुण्य-पापमें वह अपना अस्तित्व मान रहा है किन्तु इन सबसे भिन्न अन्तरंगमें अपना चैतन्यस्वरूप है वह इसे दिखाई नहीं देता। इसलिए बाह्यमें लक्ष करके उसमें सुख-दुःखकी कल्पना कर रहा है और परसे लाभ-हानि मान रहा है, इस प्रकार यह जीव अनादिकालसे संसारमें भ्रमण करता हुआ मिथ्याबुद्धिसे शरीरके प्रपंचको सत्यरूप जानकर उसमें मग्न हुआ प्रवृत्ति कर रहा है।

लोगोंमें मान मिलता है तो वह रुचता है, सेठजी धर्मके नाम पर मन्दिरमें (धर्मध्यानमें) जाते हैं और वहाँ सबसे आगे बिठाये जाते हैं। उस सभामें महाराज सेठजीकी और सेठजी महाराजकी प्रशंसा करते हैं। दोनों 'परस्पर' प्रशंसा करके बडप्पनको पुष्ट करते है और उसमें धर्म मानकर संतुष्ट होते हैं। इस प्रकार परस्पर धर्मके बहानेसे बाहरी हा हो हरीफाईमें लग जाते हैं। यह सब उपाय करने पर भी दुःख तो ज्योंका त्यों बना रहता है। विपरीत उपायसे दुःख दूर नहीं हो सकता। दुःखका मूल कारण है अज्ञानजनित इच्छारूपी रोग, और वह अनादिकालसे लगा हुआ है। जीव यह नहीं जानता कि इच्छारूपी रोग क्या है ? और वह कैसे मिट सकता

(शेष देखे पृष्ठ ३४ पर)

श्री सुमतिनाथ जिन-स्तुति	मुनि नाथ सुमति सत् नाम धरे, सत् युक्तिमई मत तुम उचरे;

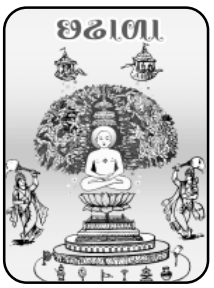

श्री छहढाला पर पूज्य गुरुदेवश्रीका प्रवचन

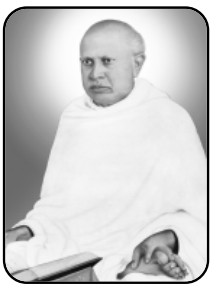

(तीसरी ढाल, गाथा-१)

आत्माके हितरूप मोक्षमार्गका वर्णन

हे जीव ! तू मोक्षपथमें चल

वह मोक्षका मार्ग क्या है ?–तो कहते हैं कि–

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरण शिव-मग सो द्विविध विचारो,
जो सत्यारथरूप सो निश्चय, कारण सो व्यवहारो।

पुण्य और पाप उन दोनोंमें आकुलता होनेसे उसे मोक्षमार्गमेंसे निकाल दिया। संपूर्ण निराकुलतारूप सुखका अनुभवस्वरूप जो मोक्ष, उसकी प्राप्तिका मार्ग भी निराकुलभावरूप ही होता है। यथार्थ मोक्षमार्ग निराकुल अर्थात् राग बिनाका ही होता है। उसके साथ रागसहित श्रद्धा-ज्ञान-आचरणको मोक्षमार्गका कारण कहना वह व्यवहार है। जो व्यवहार रत्नत्रय है वह कोई सत्यार्थ मोक्षमार्ग नहीं है, नियमरूप मोक्षमार्ग वह नहीं है। रागसे रहित आत्माके स्वभावमें मिलकर जो सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्र हुआ वह निश्चय-मोक्षमार्ग है, वह सत्यार्थ मोक्षमार्ग है, मोक्षके लिये वह नियमसे करने जैसा कार्य है; इसलिये कहा है कि शिवमग लाग्यो चहिये। शुभरागमें लगा रहनेका न कहा लेकिन आत्माके सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान-चारित्ररूप निश्चय मोक्षमार्गमें चलनेको कहा। उसमें ही आत्माका हित और सुख है।

सुख तो आत्मस्वभाव है, राग कोई आत्मस्वभाव नहीं। तो वह राग आत्माके सुखका कारण नहीं हो सकता। सुख जिसका स्वभाव है उसे पहिचानने पर–अनुभव करने पर ही सुख होता है। जीव सुख चाहता है लेकिन स्वयंके सुखस्वभावको भूलकर वह रागमें और संयोगमें सुखको खोजता है। भाई ! सुख तो रागमें होगा या वीतरागमें ? वीतरागता वह ही सुख है उसे जीवने कदापि जाना नहीं। जिसने रागमें और पुण्यमें सुख माना उसे मोक्षकी श्रद्धा नहीं है इसलिये कहा कि सुख तो आकुलता बिनाका है। और ऐसे सुखके लिये शिवमार्गमें लगे रहना। आत्माके ऐसे अतीन्द्रिय सुखको धर्मी जीव ही जानता है; और स्व-परके भेदज्ञानपूर्वक वीतरागविज्ञान द्वारा ही उस सुखका अनुभव होता है।

तुम भिन्न मतोंमें नाहि बने,
सब कारज कारक तत्त्व घने।२१।

प्रथम ढालमें चार गतिके दुःख बतलाये, दूसरी ढालमें उस दुःखका कारण बताकर मिथ्यात्वादिको छोड़नेका और आत्महितके पंथमें लगनेका कहा; अब उस हितके उपायका वर्णन यह तीसरी ढालमें करते है। पूर्वाचार्योंके कथनका सार लेकर पंडितजीने यह छह ढालारूपी गागरमें सागर भरा है; संस्कृत-व्याकरण आदि न आता हो तदपि जिज्ञासु जीव सरलतासे समझ सके ऐसी सरल हिन्दी भाषामें प्रयोजनभूत वर्णन किया है।

आत्माका कल्याण कहो, हित कहो अथवा यथार्थ सुख कहो–वह एक ही है। जिस भावसे अतीन्द्रिय सुख होता है वह ही आत्महित है; उसके अतिरिक्त अन्य कही भी, शरीरमें, धनमें या कीर्तिमें सुख नहीं है, उसके लक्षसे तो आकुलता है लेकिन अज्ञानी उसमें सुख मानता है। पुण्यबंधका भाव भी आकुलता है और उस पुण्यका फल भोगनेमें भी आकुलता है; सुख उसमें कहीं भी नहीं है। बाह्य विषय बिना आत्मा स्वयं सुखस्वरूप है। ऐसे चैतन्यस्वरूप आत्माके अनुभवमें जो वीतरागी निराकुलता है वह ही यथार्थ सुख है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप वीतरागविज्ञान बिना ऐसा सुख किसीको होता नहीं है। धर्मी जीव इन्द्रपदके वैभवमें भी राजी नहीं है, चैतन्यके आनंदमें ही वह मग्न है।

सुख अर्थात् निराकुलता; अतीन्द्रिय आनंदका बड़ा ढेर आत्मा है। सुख स्वयंके अंतरमें है लेकिन उसे भूलकर बाह्यमें सुख मानकर जीव हैरान हो रहा है। अरे जीवों ! बाह्य सुख लेने पर अंतरमें आत्माका जो वास्तविक सुख है उसे भूल जाता है (-सुख प्राप्त करने पर सुख नाश होता है) इस बातको लक्षमें तो लिजीये। मेरा सुख मेरे आत्मामें है ऐसा लक्षमें ले तो बाह्य विषयोंमेंसे (अशुभमेंसे या शुभमेंसे) सुख लेनेकी बुद्धि न रहे, अर्थात् परिणति अंतरमें झुककर आत्मसन्मुख हो और अतीन्द्रिय सुख अनुभवमें आये। ऐसा सुख वह निर्दोष सुख है अर्थात् वह ही वास्तविक सुख है। बाह्यमें सुख दिखता है वह तो अज्ञानीकी मात्र कल्पना ही है, मृगजल जैसी वह कल्पना मिथ्या है। जैसे हिरन मृगजलको पानी समझकर पीने दौड़ता है...बहुत दौड़ता है फिर भी उसे पानी मिलता नहीं है।–कहाँसे मिले ? वहाँ पानी हो तो मिले न ? वहाँ तो पानी है नहीं लेकिन तप्त धूल है।

—अरे हिरन ! इतना-इतना दौड़ने पर भी पानीकी शीतल हवा भी तुझे न आयी, अब तो तू विचार कर कि तुझे जो मृगजल दिखाई दे रहा है वह वास्तवमें पानी नहीं है लेकिन कल्पना ही है, दृष्टिभ्रम ही है। लेकिन मृगजलके जलकी ओर दौड़ रहा है हिरनको इतना

है तत्त्व अनेक व एक वही,
तत्त्व भेद अभेदहि ज्ञान सही;

सोचनेका भी अवकाश कहाँ है ? उसी प्रकार मृगजल समान विषयोंकी ओर दौड़नेवाले प्राणीको इतना भी विचार नहीं आया कि अरे, अनादिकालसे अशुभ और शुभ विषयोंके पीछे दौड़ने पर भी मुझे अल्प भी सुख क्यों नहीं मिला ? सुखकी शीतल हवाकी एक लहर भी क्यों नहीं आयी ?–कहाँसे आयेगा ? उसमें सुख हो तो आये न ? इन विषयोंके ओरके वेगमें तो तप्तायमान रेती जैसी आकुलता है; उसमें सुखाभास दिखता है वह तो अज्ञानीका दृष्टिभ्रम ही है।

बाह्यकी आकुलता वह सुख, और प्रतिकूलता वह दुःख–इस प्रकार परमें सुख-दुःख नहीं है। धनवान सुखी और निर्धन दुःखी ऐसा भी नहीं है; बाह्यकी दरिद्रतामें कोई दुःख नहीं है और लाखों-करोड़ों रुपयेका ढेर हो–उसमें कोई सुख नहीं है लेकिन इन दोनोंकी ओरकी नजरियाके आकुलतासे जीव दुःखी है। अरे, चैतन्यप्रभु आत्मा ही एक ऐसा है कि जिसमें देखनेसे सुख मिलेगा। आत्मा ही सुखका भंडार है लेकिन उसकी उसे खबर नहीं है। सुख वह तो आत्माका स्वयंका वैभव है, वह कोई जड़ वैभवमें नहीं है।

भाई, तुझे सुखी होना है न ?....हाँ। तो सुख कैसा होता है और वह कैसे मिले उसे पहिचानना चाहिये। आत्माका जो सहज स्वभाव है उसके बीच रागकी दखल-अंदाजी न कर तो आत्मा स्वयं निराकुल सुखरूप अनुभवमें आता है। सुखस्वभाव वह आत्मा ही है। निराकुलता वह सुख है, और आत्माकी मुक्तदशा है; इसलिये सुखके अर्थीको मोक्षके मार्गमें लगना चाहिये। मोक्षका मार्ग अर्थात् राग बिनाका सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र; मोक्ष निराकुल है और उसका मार्ग भी निराकुल है; राग तो आकुलता है–दुःख है।

भगवंत सिद्ध और अर्हंत बाह्यके किसी भी साधन बिना स्वयमेव अनंत अतीन्द्रिय आनंदका अनुभव करते हैं। विदेहक्षेत्रमें अभी भी सीमंधर भगवान और लाखों अरिहंत भगवंतों ऐसे अनंत आनंदमें विराजमान हैं। सिद्ध भगवंतों अनंता है वे लोकके शिखर पर विराजते है। ऐसे ही अतीन्द्रिय सुखसे भरा प्रत्येक आत्मा है। उसे पहिचानकर उसके आश्रयसे मोक्षसुखको साधनेके उपायमें लगना चाहिये। श्री जिनदेवने कहा वीतरागी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र—कि जो आत्मशुद्धिरूप है, वह यथार्थ मोक्षमार्ग है। वीतरागी रत्नत्रय कहो या निश्चय रत्नत्रय कहो, वह मोक्षके लिये नियमसे कर्तव्य है, इसलिये उसे 'नियम' कहते हैं; उसमें रागका अभाव बताने हेतु 'सार' विशेषण लगाकर उसे 'नियमसार' कहा जाता है। वह परमसुखका मार्ग है। (क्रमशः) ✻

उपचार कहो तो सत्य नहीं,
इक हो अन ना वक्तव्य नहीं।२२।

मृत्युका भय किसे मिटेगा ?

मृत्युका भय किसको मिटेगा ? आयुष्यका अभाव उसे लोग मरण कहते हैं। आयुष्य वह पुद्गल परमाणुओंकी अवस्था है। पुद्गलकी अवस्था एक ही समय जितनी मर्यादित है; उसकी अवस्थाका उत्पाद प्रथम आयुष्यरूप था, पश्चात् दूसरी अवस्थामें उसका परिणमन पलट गया है और वह आयुष्यरूप परिणमन न होकर अन्यरूप परिणमित हो गया है और उसी समय शरीरके परमाणुओंका परिणमन पलट गया, तथा आत्माके व्यंजनपर्यायकी उस क्षेत्रमें रहनेकी योग्यता समाप्त होकर अन्य क्षेत्रमें चली गई—इस प्रकार कर्म, शरीर और आत्मा यह तीनोंकी अवस्थाका स्वतंत्र परिणमन प्रति समय हो रहा है। लेकिन यह तीनोंमेंसे कोई (-कर्म, शरीर या आत्माकी व्यंजनपर्याय) जीवको दुःखका कारण नहीं हैं; दुःखका कारण तो स्वयंका अज्ञानभाव ही है। जिन्हें कर्म और शरीरसे भिन्न स्वयंके चैतन्य-स्वभावका भान है वह तो उसका ज्ञाता ही रहता है, वह शरीरादिके वियोगसे आत्माका मरण या दुःखको मानता नहीं है लेकिन संयोगसे भिन्नरूप स्वयंके त्रिकाली चैतन्य स्वभावको सदा अनुभव करता है। लेकिन जिन्हें कर्म और शरीरसे पृथक् स्वयंके चैतन्यस्वभावका अनुभव नहीं–ऐसा अज्ञानी जीव शरीरादिके वियोगसे आत्माका मरण और दुःख मानकर आकुलता और राग-द्वेषसे ही दुःखी होता है। इस प्रकार यह जीव अज्ञानभाव द्वारा चैतन्यभावका घात करता है वह ही मरण है, हिंसा है। इसलिये शुद्ध चैतन्यस्वभावको जो जानता है उसे ही मृत्युका भय होता नहीं है।

–पुरुषार्थप्रेरणामूर्ति पूज्य गुरुदेवश्री

युवा-विभाग

(इस विभागके अंतर्गत मुमुक्षुओंकी पूज्य गुरुदेवश्रीके साथ रात्रिके समय चर्चा हुई, वह दी जा रही है।)

प्रश्न—आत्मा और परका सम्बन्ध नहीं है–यह समझनेका प्रयोजन क्या ?

उत्तर—परके साथ सम्बन्ध नहीं अर्थात् परलक्षसे जो विकार होता है, वह मेरा स्वरूप नहीं–इसप्रकार परके साथका सम्बन्ध तोड़कर तथा अपनी पर्यायका भी लक्ष छोड़कर अभेद स्वभावकी दृष्टि करना–यही प्रयोजन है।

प्रश्न :–रागको जीवका कहे या पुद्गलका ?

उत्तर :–राग अपनी पर्यायमें ही होता है, स्वयं ही करता है, अतः पर्यायदृष्टिसे जीवका है। द्रव्यदृष्टिसे जीवस्वभावमें राग है ही नहीं; अतः राग जीवका नहीं, पुद्गलके लक्षसे होता होनेसे पुद्गलका है।

प्रश्न :–एक खूंटेसे बांधकर रखिये न ?

उत्तर :–जिस अपेक्षासे कहा जाता है, उस अपेक्षासे खूंटा मजबूत ही है। रागको सर्वथा परका ही माने तो जीव स्वच्छँदी हो जायेगा और रागको सर्वथा अपना ही स्वभाव मानेगा तो कभी उसका अभाव नहीं हो सकेगा। अतः पहले राग स्वयं ही अपने अपराधसे करता है। कर्म नहीं कराते, ऐसा निर्णय करके, फिर स्वभावदृष्टि करानेके लिये राग मेरा स्वरूप नहीं, औपाधिक भाव है–ऐसा कहा है। यहाँ रागको कर्मजन्य कहकर रागका लक्ष्य छुड़ाकर स्वभावका लक्ष्य कराया है।

प्रश्न :–समयसार गाथा ६में समस्त अन्य द्रव्यके भावोंसे भिन्नपने उपासनेमें आता हुआ 'शुद्ध' कहा जाता है–ऐसा कहा। यहाँ विकारसे भिन्न उपासनेमें आता है—ऐसा क्यों नहीं कहा ?

उत्तर :—अन्य द्रव्यके भावोंसे भिन्न उपासने पर विकार और पर्यायके ऊपरका लक्ष छूटकर स्वद्रव्यके ऊपर लक्ष जाता है।

प्रश्न :–आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्त नहीं होता इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर :–आत्मा शुभ-अशुभरूप नहीं होता। यदि शुभ-अशुभरूप हो तो प्रमत्त-अप्रमत्तरूप हो, किन्तु शुद्धात्मा शुभाशुभरूपसे नहीं परिणमता, इसलिये प्रमत्त-अप्रमत्तरूपसे भी

है सत्त्व असत्त्व सहित कोई नय,
तरु पुष्प रहे न हि व्योम कलप;

नहीं होता। अप्रमत्त सातवें गुणस्थानसे तेरहवें तक है, उस पर्यायरूप आत्मा नहीं होता। आत्मा एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप है। शुभाशुभरूप नहीं होता, इसलिये प्रमत्तरूप नहीं होता और प्रमत्तरूप हो तो उसका अभाव करके अप्रमत्तरूप हो। आत्मा प्रमत्त-अप्रमत्तके भेदरूप नहीं होता। एकरूप ज्ञायकभाव स्वरूप ही है।

प्रश्न :–राग-द्वेषको जीवकी पर्याय कहा है और फिर उसीको निश्चयसे पुद्गलका परिणाम भी कहा। अब हम क्या निश्चय करें?

उत्तर :–राग-द्वेष है तो जीवका ही परिणाम, किन्तु वह पुद्गलके लक्ष्यसे होता होनेसे और जीवका स्वभावभाव न होनेसे तथा स्वभावदृष्टि करानेके प्रयोजनसे, पुद्गलका कहा गया है; क्योंकि निमित्ताधीन होनेवाले भावको निमित्तका भाव है, पुद्गलका भाव है—ऐसा कहनेमें आता है।

प्रश्न :–प्रथम भूमिकामें जिज्ञासु जीव राग-द्वेषके भावको अपना माने या पुद्गलका माने?

उत्तर :–रागादिभाव अपनेमें अपने अपराधसे होते हैं—ऐसा जानकर, श्रद्धासे निकाल दे, अर्थात् ऐसी श्रद्धा करे कि यह रागादिके परिणाम मेरे त्रिकाली स्वभावमें नहीं हैं।

प्रश्न :–राग आत्माका है या पुद्गलकर्मका? दोनों प्रकारके कथन शास्त्रमें आते हैं। कृपया रहस्य बतलाईये?

उत्तर :-वस्तुकी सिद्धि करनी हो, तब राग व्याप्य है और आत्मा व्यापक है अर्थात् राग आत्माका है—ऐसा कहा जाता है। जब दृष्टि शुद्ध चैतन्यकी हुई, सम्यग्दर्शन हुआ तब निर्मलपर्याय व्याप्य और आत्मा व्यापक है। सम्यग्दृष्टिका जो राग है, वह व्याप्य और कर्म उसका व्यापक है अर्थात् सम्यग्दृष्टिका जो राग है, वह पुद्गल कर्मका कहा जाता है क्योंकि ज्ञानी जीव दृष्टि अपेक्षा रागसे भिन्न पड़ गया है, इसलिये उसके रागमें कर्म व्यापता है—ऐसा कहा जाता है।

प्रश्न :–ज्ञानी द्रव्यदृष्टिके बलसे रागको पुद्गलका मानता है तो क्या जिज्ञासु जीव भी रागको पुद्गलका मानता है?

उत्तर :–हाँ जिज्ञासुजीव भी वस्तुके स्वरूपका चिन्तवन करते समय रागको आत्माका नहीं मानता, पुद्गलका ही मानता है। राग तो उपाधिभाव है, पराश्रयसे उत्पन्न होनेके कारण मेरा नहीं है, पुद्गलका है–ऐसा विचार जिज्ञासुजीव करता है।

तव दर्शन भिन्न प्रमाण नहीं,
स्व स्वरूप नहीं कथमान नहीं।२३।

प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्रीकी गुरुभक्तिपूर्ण आध्यात्मिक तत्त्वचर्चा

प्रश्न :— *वचनामृतमें आता है कि ज्ञानीको शुभभाव है वह काले नाग जैसा दिखता है, और दूसरी ओर ऐसा कहा जाता है कि—ज्ञानी तो शुभाशुभभावोंका ज्ञाता है। तो इन दोनोंमें मेल कैसे है?*

समाधान :—ज्ञानीको भेदज्ञानकी दशा है। यह स्वभाव है और यह विभाव है ऐसा उसे सहज ज्ञात होता है। ज्ञायक ज्ञायकरूपसे अपनी परिणतिमें खड़ा है; अल्प अस्थिरता है उसे भी वह जानता है; तथापि उसकी भावना ऐसी है कि मैं कब स्वरूपमें पूर्ण लीन हो जाऊँ? ऐसी भावनाके कारण ज्ञानीको शुभभाव काले नाग जैसा लगता है। इस अपेक्षासे वहाँ कहा है। मगर उसे कोई द्वेषबुद्धि नहीं है, वह तो मात्र जानता है–ज्ञायक है, ज्ञाता है; राग आता है उसका ज्ञाता–द्रष्टा है परन्तु उसे भावना तो ऐसे रहती है कि यह अपूर्णता है। अहो ! मुनि जिसप्रकार क्षण–क्षणमें स्वरूपमें लीन हो जाते हैं ऐसी मेरी दशा नहीं है, ऐसी दशा मुझे कब प्राप्त हो कि मैं स्वरूपमें लीन हो जाऊँ। इसलिये यह विभाव है वह आदरणीय नहीं है, मेरा स्वभाव नहीं है। मुझे कब वीतरागदशा हो और मैं शाश्वत आत्मामें स्थिर हो जाऊँ विभाव मुझे न हों, मुझे पूर्ण स्वभावकी प्राप्ति हो जाय।—ऐसी उसकी भावना रहती है।

प्रश्न :— *ज्ञानीको शुभराग काले नाग जैसा दिखाई देता है—ऐसा कहनेका तात्पर्य तो यही है न कि ज्ञानीको सविकल्पदशामें निरन्तर पूर्णताकी भावना बनी रहती है?*

समाधान :—हाँ, स्वानुभूति–निर्विकल्पदशा हो तब तो विकल्पोंकी ओर उसका उपयोग भी नहीं है; स्वयं तो आनन्दमें–निर्विकल्पदशामें है; परन्तु जब उसका उपयोग बाहर आता है तब जानता है कि इतनी अपूर्णता है; और मुझे पूर्णता कब प्राप्त हो? यह विभावभाव मुझे नहीं चाहिए। इतना विभाव भी मुझे नहीं पुसाता। जैसे आँखमें एक रजकण भी नहीं समाता, वैसे ही द्रव्यदृष्टिसे मैं पूर्ण होनेपर भी पर्यायमें इतनी भी कचास मुझे नहीं चाहिये; इसलिये राग उसे काला नाग लगता है। वह मुझे आदरणीय नहीं है, मैं पूर्ण हो जाऊँऐसी उग्र

जो नित ही होता नाश उदय,
नहिं, हो न क्रिया, कारक न सधय;

भावना वर्तती है। निर्विकल्पदशाके समय विकल्पकी ओर उसका उपयोग नहीं है और जब बाहर आता है तब भेदज्ञानकी धारा वर्तती है। उसे विभावके साथ एकत्वबुद्धि नहीं है।

प्रश्न :— *क्षायिक सम्यग्दृष्टि तलवार लेकर युद्धके मैदानमें जाये, इसमें क्या आश्चर्य नहीं लगता ?*

समाधान :—इतनी उसकी अपूर्णता है, भावना तो उग्र है। अंतरमें भेदज्ञानकी धारा वर्तती है, एकत्वबुद्धि नहीं है। राज्यका अल्प राग है इसलिये युद्धके मैदानमें खड़ा रहता है; तथापि उसका वर्तन न्यायोचित होता है। उसकी अंतरपरिणति जुदी है; (हमें) उसके अंतरको देखना है।

जिसप्रकार हाथीके दाँत खानेके अलग और दिखानेके अलग होते हैं, उसीप्रकार ज्ञानी युद्ध क्यों करते होंगे ?—ऐसा लगता है, परन्तु उस समय भी वे स्वयं तो स्वभावकी परिणतिमें ही स्थित हैं। अल्प राग है जिससे बाहर खड़े दिखाई देते हैं, परन्तु यदि उस समय भी वैराग्य-भावना तीव्र हो जाय तो मुनि होकर चल देते हैं।

प्रश्न :— *क्या भेदज्ञान ही स्वानुभूति प्रकट करनेका उपाय है ?*

समाधान :—भेदज्ञानकी धारा द्वारा, स्वानुभूति होती है; बारम्बार भेदज्ञानकी तीक्ष्णता करनेसे स्वानुभूति होती है। किसीको उग्रता त्वरासे हो तो तत्काल–उसी क्षण हो जाती है और अधिकांश जीवोंको अभ्यासकी उग्रता करनेपर स्वानुभूति होती है। 'समयसार' मोक्ष अधिकारके १८०वें कलशमें तो भेदज्ञान अर्थात् स्वानुभूतिकी बात ली है। भेदज्ञान द्वारा तत्काल भेद हो जायगा उसमें तुझे स्वानुभूति होगी। विकल्पवाली भूमिकामें लेना हो तो बारम्बार अभ्यास अर्थात् बारम्बार भेदज्ञानकी उग्रता करनेसे तुझे स्वानुभूति होगी। उस समय विकल्प है परन्तु विकल्प मैं नहीं हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञायक हूँ—ऐसी ज्ञाताधाराकी उग्रता द्वारा तुझे स्वानुभूति होगी।

प्रश्न :— *परिणति और उपयोग—दोनोंमें क्या अन्तर है ?*

समाधान :—परिणति और उपयोगमें फेर है। भेदज्ञानकी धारारूप उसकी परिणति तो निरन्तर वर्तती ही है, जबकि उपयोग बाहर आता है और अंतरमें जाता है। उपयोग अंतरमें जाये तब स्वानुभूति होती है। फिर बाहर आता है। उपयोग बाहर आने पर भी परिणति तो बनी ही रहती है। इसप्रकार परिणति और उपयोगमें फेर है। भेदज्ञानकी धारा तो चल ही रही है, अमुक अंशमें—जितनी दशा प्रकट हुई है उतनी चलती है।

बाल विभाग

सत्यकी असत्य पर विजय

स्वस्तिकावती नगरीमें राजकुमार वसु, गुरुपुत्र पर्वत और नारद तीनों क्षीरकदम्ब गुरुके पास अभ्यास करते थे। गुरुके क्रोधसे बचानेके बदलमें राजकुमार वसु गुरुमाताको कुछ मांगनेको कहता है लेकिन गुरुमाताने कहा कि जब आवश्यकता होगी तब मांग लूंगी। कुछ समय पश्चात् वसु राजा बना, गुरु क्षीरकदंब दीक्षा लेकर समाधिमरण करके देव हुए और पर्वत पिताका अध्यापन कार्यको सम्हालने लगा। एक दिन नारद अपने सहाध्यायीसे मिलने हेतु गुरुपुत्र पर्वत के पास आया अब आगे....

पर्वत उस समय अपने शिष्योंको पढ़ा रहा था। साधारण कुशल-क्षेम पूछनेके बाद नारद वहीं बैठ गया और पर्वतका अध्यापन-कार्य देखने लगा। प्रकरण कर्मकाण्डका था। वहाँ एक श्रुति थी –'अजैर्यष्टव्यमिति', पर्वतने उसका अर्थ किया कि बकरोंकी बली देकर होम करना चाहिये। लेकिन उसमें बाधा देकर नारदने तुरन्त कहा–''नहीं, इस श्रुतिका अर्थ यह नहीं है। गुरुजीने हमें इसका अर्थ ऐसा बताया था कि तीन वर्ष पुराने धानसे, जिसमें पुनः उत्पन्न होनेकी शक्ति समाप्त हो जाती है, उससे होम करना चाहिये।''

पर्वतने अपनी गलती तो स्वीकार नहीं की, उलटे दुराग्रहके वश होकर उसने कहा– ''नहीं, तुम्हारा कहना सर्वथा मिथ्या है। असलमें 'अज' शब्दका अर्थ बकरा ही होता है और उसीसे होम करना चाहिये।'' अरे ! जिसे दुर्गतिमें जाना होता है, वह सत्यको जानकर भी जान-बूझकर ऐसा झूठ बोलता है।

तब दोनोंमें सच्चा कौन है, इसका निर्णय उन्होंने राजा वसुसे कराना तय किया। तथा परस्परमें प्रतिज्ञा की कि जिसका कहना झूठ सिद्ध होगा, उसकी जबान काट दी जायेगी। पर्वतकी माँको इस विवाद पर परस्पर प्रतिज्ञाकी बात मालूम हुई। वह जानती थी कि पर्वतने उस श्रुतिका उलटा अर्थ करके असत्य वचन कहा है और वसु राजाका निर्णय होनेके पश्चात् पर्वतकी जबान काट दी जायेगी।

पुत्रका पक्ष असत्य होने पर भी पुत्र-प्रेमसे वह अपने कर्तव्यसे विचलित हुई। वह राजा वसुके पास पहुँची और उससे बोली–''पुत्र, तुम्हें याद होगा कि मेरा एक वचन तुमसे पाना बाकी है। आज उसकी मुझे जरूरत आ पड़ी है। इसलिये अपनी प्रतिज्ञाका निर्वाह कर मुझे कृतार्थ करो। पर्वत और नारदमें ....इसप्रकारकी शर्त लगी है और उसके निर्णयके लिये उन्होंने तुम्हें मध्यस्थ चुना है। इसलिये मैं तुम्हें कहनेको आई हूँ कि तुम पर्वतके पक्षका समर्थन करना।''

सत् नाश न हो नहिं जन्म असत्,
जु प्रकाश गए पुद्गल तम सत्।२४।

जो स्वयं पापी होते हैं, वे दूसरोंको भी पापी बना डालते हैं। जैसे सर्प स्वयं जहरीला होता है और जिसे काटता है, उसे भी विषयुक्त कर देता है। पापियोंका यह स्वभाव ही होता है।

दूसरे दिन राजसभा लगी हुई थी। सभी राज्याधिकारी व कर्मचारी यथास्थान पर बैठे थे। राजा वसु भी एक अत्यंत सुंदर रत्नजड़ित सिंहासन पर बैठा हुआ था। इतनेमें पर्वत और नारद अपना न्याय करानेके लिये राजसभामें आये। दोनोंने अपना-अपना कथन सुनाकर अंतमें किसका सत्य है और गुरुजीने हमें 'अजैर्यष्टव्यम्' इसका क्या अर्थ समझाया था, इसका निर्णयका भार वसु पर छोड़ दिया।

वसु उक्त शब्दका अर्थ जानता था और यदि वह चाहता तो सत्यकी रक्षा कर सकता था, लेकिन उसे गुरु-पत्नीके द्वारा माँगे हुए वचनने सत्यमार्गसे ढकेल कर हठाग्रही और पक्षपाती बना दिया। अतः निर्णय देते हुए उसने कहा–''जो पर्वत कहता है, वही सत्य है।''

प्रकृतिको उसका यह असत्य सहन नहीं हुआ। उसका परिणाम यह हुआ कि राजा वसु जिस स्फटिकके सिंहासन पर बैठ कर प्रतिदिन राजकार्य करता था और लोगोंको यह कहा करता था कि मेरे सत्यके प्रभावसे मेरा सिंहासन आकाशमें ठहरा हुआ है, वही सिंहासन वसुकी असत्यतासे टूट पड़ा है और जमीनमें धंस गया। उसके साथ ही वसु भी पृथ्वीमें जा घँसा। अर्थात् वसु कालके सुपुर्द हुआ और मरकर सातवें नरकमें गया।

सच है, जिसका हृदय दुष्ट और पापी होता है, उसकी बुद्धि नष्ट हो जाती है और अंतमें उसे कुगतिमें जाना पड़ता है। इसलिये जो अच्छे पुरुष हैं और पापसे बचना चाहते हैं, उन्हें प्राणोंका संकट आने पर भी कभी झूठ नहीं बोलना चाहिये; क्योंकि असत्य मार्ग पर चलनेवालोंका अहित होता है और वे कुगतिको प्राप्त होते हैं।

इसलिये हे भव्यजीवों ! ऐसे सत्य जिनधर्मको जानकर, तुम उसका आदर करके जिनमार्गके अनुसार सत्य ही बोलो। तत्त्वके यथार्थ ज्ञानपूर्वक ही सत्य व्रतका बराबर पालन हो सकता है।

इस प्रकार राजा वसु तो नरकमें चला ही गया और पर्वतकी दुष्टता देखकर प्रजाके लोगोंने उसे राज्यके बाहर निकाल दिया और नारदका बहुत आदर-सत्कार किया; परंतु इस प्रसंगसे नारदकी जिनधर्म पर श्रद्धा और भी दृढ़ हो गई। अंतमें नारदने संसारसे उदासीन होकर जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। मुनि होकर उसने अनेक जीवोंका कल्याणकके मार्गमें लगाया और तपस्या द्वारा पवित्र रत्नत्रयकी आराधना कर आयुके अंतमें सर्वार्थसिद्धि गया।

प्रौढ व्यक्तियोंके लिए जानने योग्य प्रश्न तथा उत्तर

प्रश्न–७२ : मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानके बीच क्या फर्क है ?

उत्तर : मिथ्याज्ञान वह संसारका कारण है। सम्यग्ज्ञान वह मोक्षका कारण है। अनादिसे जीवको मिथ्याज्ञान है। जो जीव सत्य समझ करे उसे सम्यग्ज्ञान होकर अल्पकालमें मोक्ष होता है। मिथ्याज्ञानी जीव हमेशा 'पुण्यसे धर्म होता है और शरीरादिका मैं कर सकता हूँ' ऐसा मानता है लेकिन सम्यग्ज्ञानी जीव कदापि 'पुण्यसे धर्म होता है या शरीरादिकी क्रिया मैं कर सकता हूँ' ऐसा मानते नहीं है; इस प्रकार मिथ्याज्ञान और सम्यग्ज्ञानके बीच आकाश-पाताल जितना बड़ा अंतर है ।

प्रश्न–७३ : जिसे व्यवहारचारित्र हो उसे गृहीत मिथ्यात्व होता है या नहीं ?

उत्तर :–जिसे व्यवहारचारित्र हो उसे गृहीत मिथ्यात्व तो होगा ही नहीं।

प्रश्न–७४ : गृहीत मिथ्यात्व छूटनेसे सम्यग्दर्शन हो सकता है कि नहीं ?

उत्तर :–सभी प्रकारका मिथ्यात्व छूटे तभी सम्यक्त्व होता है; सिर्फ गृहीत मिथ्यात्व छूटनेसे सम्यग्दर्शन नहीं हो सकता है। प्रथम गृहीत मिथ्यात्व छोड़कर जो आत्माकी सही पहिचान करके अगृहीत मिथ्यात्वको भी छोड़े तभी सम्यग्दर्शन होता है। गृहीत मिथ्यात्व छोड़कर भी यदि पराश्रयबुद्धिसे सच्चे देव-गुरु-शास्त्रकी ओर रुक जाय और स्वाश्रितदृष्टिसे स्वसन्मुख होकर स्वयंके आत्माकी सत्य पहिचान न करे तो उसे सम्यग्दर्शन नहीं होता और अगृहीत मिथ्यात्वका नाश नहीं होता। गृहीत और अगृहीत दोनों मिथ्यात्वका नाश करे उसे ही सम्यग्दर्शन होता है।

प्रश्न–७५ : प्रथम गृहीत मिथ्यात्वका नाश होता है या अगृहीत ?

उत्तर :–प्रथम गृहीत मिथ्यात्वका नाश किये बिना अगृहीत मिथ्यात्वका नाश नहीं होता। किसीको गृहीत और अगृहीत दोनों एकसाथ नाश हो जाते है; जिसे गृहीत मिथ्यात्व होता है उसे अगृहीत मिथ्यात्व भी होता ही है।

प्रश्न–७६ : एक जीव मिथ्यात्व सहित शुभ क्रियामें वर्तता है और ऐसा मानता है कि मुझे इस क्रियासे धर्म होता है; उसी समय दूसरा जीव क्रोधसे लडाई लड़ता है और उसे आत्माकी पहिचान है, तो उन दोनों जीवोंमेंसे उस समय किस जीवको ज्यादा बंध होता होगा ?

उत्तर :–जो जीव शुभरागकी क्रियामें धर्म मानता है उस जीवको मिथ्यात्वके पाप सहित अधिक बंध होता है क्योंकि मिथ्यात्व ही महाबंधका कारण है। ज्ञानी जीवको लडाईके वक्त

भी महापापका बंध नहीं होता; सम्यक् श्रद्धा होनेसे लड़ाईके वक्त भी उसे आत्मभान वर्तता है और संसार कम होता जाता है। अज्ञानीको विपरीत श्रद्धा होनेसे शुभरागके समय भी वह संसारकी वृद्धि करता है। सम्यक् श्रद्धाके बिना आत्माको किसी भी प्रकारसे लाभ नहीं होता और कर्मबंधन तूटते नहीं। मिथ्यात्वके सेवनसे आत्माको जो नुकशान होता है उतना नुकशान ओर किसी भी प्रकारसे नहीं होता।

प्रश्न-७७ : ''यह शरीर जीवको दुःखी करता है'' इस वाक्यमें क्या भूल है?

उत्तर :–यह वाक्य गलत है वास्तवमें शरीर जीवको दुःखी करता नहीं है लेकिन शरीरके प्रति जीवका मोहभाव है वह ही जीवको दुःखी करता है। जीवको सुख-दुःख स्वयंके भावसे ही होता है, लेकिन शरीरसे सुख-दुःख नहीं होता।

प्रश्न–७८ : राग-द्वेष अधिक नुकशान करता है कि राग-द्वेषको अपना मानना वह?

उत्तर :–राग-द्वेषको अपना मानना वह विपरीत मान्यता ही अधिक नुकशानका कारण है। राग-द्वेष वह तो चारित्रका दोष है और राग-द्वेषको अपना मानना वह श्रद्धाका दोष है। श्रद्धाका दोष सर्वदोषका मूल है। मिथ्यात्वका नाश होते अनंत राग-द्वेषका नाश होता है।

प्रश्न–७९ : एक जीव ऐसा मानता है कि....'मेरे उपदेश द्वारा मैं दूसरेको धर्म प्राप्त करा सकता हूँ'; तो क्या वह जीव सम्यग्दृष्टि है या मिथ्यादृष्टि?

उत्तर :–वह मिथ्यादृष्टि है, क्योंकि मैं परजीवोंको समझा सकता हूँ ऐसी उसकी मान्यता मिथ्या है; एक जीव दूसरे जीवका कुछ नहीं कर सकता है लेकिन वह परका कर्तृत्व मानता है एवं उपदेशके जड़ शब्दोंका कर्तापना मानता है—इससे ऐसा फलित होता है कि वह मिथ्यादृष्टि ही है। ज्ञानी उपदेश देते हैं उसमें कर्तृत्वबुद्धि नहीं होती।

बालकोंके लिये दिये गये प्रश्नोंके उत्तर

(१) आठ
(२) तीन
(३) उमराला
(४) मनुष्य
(५) नेमित्तिक, विकारीभाव, अथवा औपाधिक, औदयिक
(६) वासुपूज्य
(७) जम्बू
(८) वासुपूज्य, मल्लिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर
(९) वढवाण, वीरपुरी, वर्धमानपुरी
(१०) बैल
(११) मनुष्य
(१२) पूज्य बहेनश्री चंपाबेन
(१३) चार
(१४) निःसही, निःसही, निःसही
(१५) आदिनाथ
(१६) मिथ्यात्व
(१७) विदेह
(१८) पूज्य बहिनश्री चंपाबेन
(१९) दस
(२०) आदिनाथ

(१३५) छोटे बच्चोंके लिए प्रश्नोत्तर

(रिक्त स्थानकी पूर्ति किजीये।)

(१) भगवानकी पूजामें ..... द्रव्योंका उपयोग होता है।

(२) अष्टाह्निका पर्व वर्षमें ..... बार आता है।

(३) परम पूज्य कानजीस्वामीने दीक्षा.....में ली थी।

(४) ..... नंदीश्वरमें पूजन करने नहीं जा सकते।

(५) राग और द्वेष यह ..... भाव हैं।

(६) चंपापुरसे..... भगवान मोक्ष गये है।

(७) भरतक्षेत्र..... द्वीपमें है।

(८) बालब्रह्मचारी पांच तीर्थंकरके नाम (१)..... (२)..... (३) ..... (४) ..... (५) .....

(९) पूज्य बहिननश्री चंपाबेनका जन्म ..... में हुआ था. उनका दूसरा नाम ..... है।

(१०) आदिनाथ भगवानका चिह्न ..... है।

(११) ..... गतिमेंसे ही सिद्ध हुआ जाता है।

(१२) सोनगढ़के स्वाध्यायमंदिरमें समयसारकी स्थापना..... ..... द्वारा हुई थीं।

(१३) ..... अनुयोग है।

(१४) मंदिरमें प्रवेश करते वक्त ..... तीन बार बोलना चाहिए।

(१५) भरत चक्रवर्ती तथा बाहुबली ..... भगवानके पुत्र थे।

(१६) सबसे बड़ा पाप ..... है।

(१७) परम पूज्य कानजीस्वामीने कुन्दकुन्दाचार्यदेवको .....क्षेत्रमें देखा था।

(१८) धर्मकी शोभा यह विशेष नाम पूज्य कानजीस्वामीने ....को दिया था।

(१९) पर्युषण पर्वके .....दिन होते है।

(२०) अष्टापद (कैलास) पर्वतसे ..... भगवान मोक्ष गये है।

शुद्धि पत्रक | आत्मधर्म नवम्बर-२०२४ पृष्ठ - ३४ | अशुद्ध → Shibir Help Line Number ✆ 8989545494 | शुद्ध → Shibir Help Line Number ✆ 8989646494

सुवर्णपुरी समाचार :—

अध्यात्मतीर्थ सुवर्णपुरीका धार्मिक वातावरण अनंत उपकारमय पूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी एवं उनके अनन्य भक्त पूज्य बहिनश्री चंपाबेनके कल्याणवर्षी पुण्यप्रतापसे, आशीर्वादसे देव-गुरु-शास्त्रकी, धर्मकी आराधनामय रहता है एवं पं. रत्नश्री हिंमतभाई जे. शाहने बनाये हुए सुमधुर काव्यसे वातावरण भक्तिमय रहता है :—

प्रातः : ६-१५ से ६-३५ : पूज्य बहिनश्रीकी धर्मचर्चाकी ऑडियो-टेप
सुबह : ८-३० से ९-३० : परमागम श्री समयसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका (१८वीं बारका) सीडी प्रवचन
दोपहर : ३-०० से ४-००: श्री प्रवचनसार पर पूज्य गुरुदेवश्रीका टेप प्रवचन
दोपहर : ४-०० से ४-३० : श्री जिनेन्द्र भक्ति
रात्रि : ७-४५ से ८-४५ : श्री अष्टप्राभृत पर पूज्य गुरुदेवश्रीका सीडी प्रवचन

❀ भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य 'आचार्यपदवी दिन' समारोह ❀

भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्य 'आचार्यपदवी दिन' पोष कृष्णा ८ ता. २३-१२-२०२४, सोमवारको भगवान श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेवके विशेष पूजन-भक्तिके कार्यक्रम सह मनाया जायेगा।

(पृष्ठ २० का शेष भाग) (अनुभवप्रकाश प्रवचन)

है ? किन्तु वह प्रकारांतरसे ऐसा उपाय किया करता है जिससे इच्छारूपी रोग निरन्तर बढ़ता रहता है। जैसे किसीको मृगीका रोग है किन्तु वह कभी तो अधिक प्रकट दिखता है और कभी कम प्रकट होता है; लेकिन वह रोग अन्तरमें तो बना ही रहता है, क्योंकि निरोग नहीं हुआ है। रोगीको निरन्तर भय बना रहता है। यदि पुण्यका उदय आ जाय और अपने उपायको गलत समझे तो वह सच्चे उपायका निश्चय करनकी जिज्ञासा करे और उस रोगके विशेषज्ञ वैद्यके पास पहुँचे तथा उस पर विश्वास करे कि यही सच्चा वैद्य है, वह मेरा रोग मिटा देगा; और फिर उस वैद्यके कथनानुसार उपचार करे तो रोग मिट जाय।

इसी प्रकार आत्माके साथ राग-द्वेष और अज्ञानरूपी महारोग अपनी भूलके कारण अनादिकालसे लगा हुआ है। यदि यह अभिलाषा जागृत हो जाय कि जन्म-मरणरूपी रोगका मूल कारण अज्ञान है वह कैसे मिटे ? और वह यह जानले कि अकषाय करुणाके भण्डार त्रिलोकीनाथ तीर्थंकर भगवान तथा आत्मज्ञानी गुरु परम वैद्य हैं, इनके सेवनसे अवश्य मेरा भवरोग मिट जायगा; तथा उनके द्वारा कहे गये तत्त्वोंका निर्णय करे और फिर उनके कहे हुए उपायको करे तो रोग दूर हो जाय, दुःख टले और सुखी हो जाय। इसका क्या उपाय है वह आगे कहते हैं। (क्रमशः) ✻

पूज्य गुरुदेवश्रीके हृदयोद्‌गार

● आगमका आश्रय अनन्त पुद्‌गलकर्म है व अध्यात्मका आश्रय एकमात्र आत्मा है। उन दोनोंका पूर्ण स्वरूप तो सर्वथा प्रकारसे केवलीगम्य ही है। सम्यक् मति-श्रुतज्ञानमें मात्र अंश ही ग्राह्य है। ६६८।

● अज्ञानी, आगम-अध्यात्मको नहीं जानता। अज्ञानी जीव तो राग ही को व्यवहार मानता है, परन्तु वह द्रव्यके निर्विकल्प-पर्यायरूप व्यवहारको नहीं जानता। अखण्ड-द्रव्य तो निश्चय है व उसकी निर्विकल्प-परिणति वह अध्यात्मका अंगभूत व्यवहार है। यहाँ तो (अध्यात्ममें) मोक्षमार्ग साधनेको ही व्यवहारमें गिना है; रागको व्यवहार नहीं गिना है। ६६९।

● अन्तर-गर्भित अध्यात्मरूप-क्रिया तो अन्तर्दृष्टिसे ही ग्राह्य है; परन्तु अज्ञानीको ऐसी दृष्टि प्रकट नहीं हुयी है, अतः अध्यात्मकी अन्तर-क्रिया तो उसे दृष्टिगोचर नहीं होती; और इसी कारणसे अज्ञानी जीव मोक्षमार्गको नहीं साध सकता। वह चाहे जितने शुभभाव करे, परन्तु अन्तरकी अध्यात्मदृष्टि-बिना मोक्षमार्गको साधनेमें असमर्थ है। अज्ञानीको बाह्यकी क्रिया तथा शुभ-परिणाम सुगम लगते हैं तथा वह उन्हींमें मोक्षमार्ग मानता है। अज्ञानी, ब्रह्मचर्य-पालन व त्याग आदि शुभ-परिणामको ही मोक्षमार्ग मानता है; परन्तु अन्तरमें निर्विकल्प-ज्ञानानन्द स्वभाव विद्यमान है, उसमें ब्रह्मचर्यादिका शुभ-विकल्प भी नहीं है। अध्यात्मकी - ऐसी निर्विकल्प-परिणतिको अज्ञानी पहचानता ही नहीं है; इस कारणसे वह मोक्षमार्गमें नहीं है। ज्ञानी तो मोक्षमार्गको साधना जानता है। ६७०।

● अन्तर-शुद्धद्रव्य-एकरूप-निष्किय-ध्रुव-चिदानन्द-सो निश्चय; तथा उसके अवलम्बनसे प्रकट हुयी निर्विकल्प-मोक्षमार्ग-दशा व्यवहार है। अध्यात्मका ऐसा निश्चय-व्यवहार स्वरूप ज्ञानी ही जानता है; अज्ञानी नहीं - उसे तो यह बात कदाचित् सुननेको मिले तो भी वह न माने। ६७१।

● जिसे धर्मका आदर है–सिद्धिपदकी चाह है, उसे लक्ष्मीकी रुचि नहीं होनी चाहिए। आसक्ति होना एक अलग बात है, परन्तु रुचि नहीं होनी चाहिए। सिद्धको वंदन करने वाला अन्यको वन्दन नहीं करता। लक्ष्मीकी रुचिवालेको सिद्धिकी रुचि नहीं है। इसीलिए कहते हैं कि रुचि बदलो पर्यायमें, मैं सिद्ध हूँ - जिसको ऐसी रुचि हुयी उसको एक परमाणुकी भी रुचि नहीं होना चाहिए। ६७२।

३६
आत्मधर्म
दिसम्बर २०२४
अंक-४, वर्ष १९

Posted at Songadh PO
Publish on 5-12-2024
Posted on 5-12-2024

Registered Regn. No. BVR-368/2024-2026
Renewed upto 31-12-2026
RNI Registration No. GUJHIN/2006/18882
वार्षिक शुल्क 9=00 आजीवन शुल्क 101=00

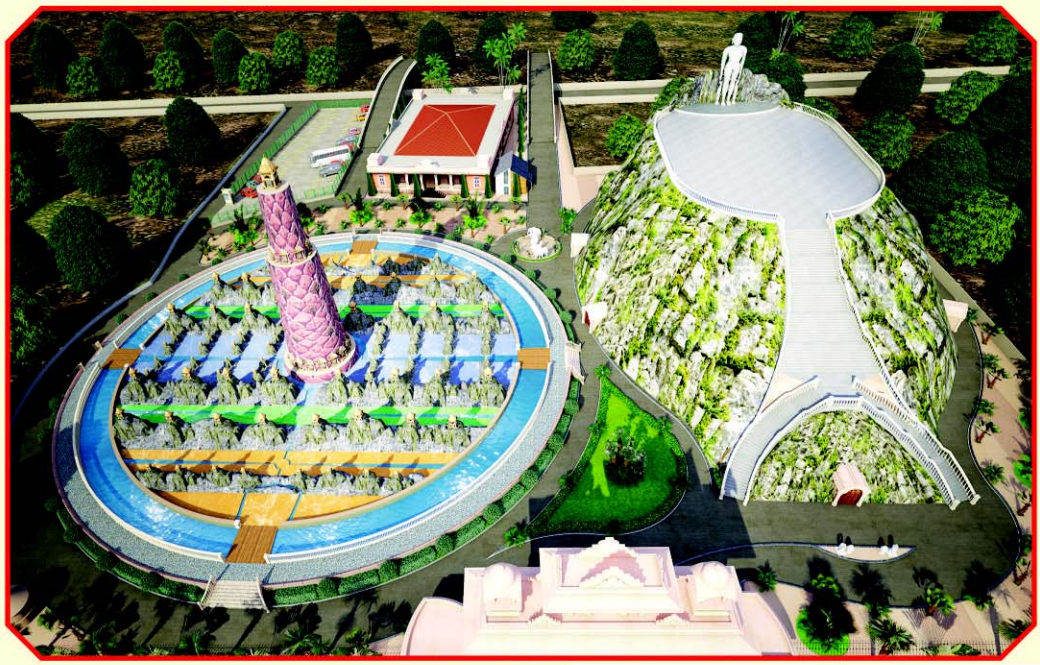

Printed & published by Navin Popatlal Shah on behalf of shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust and Printed at Smruti Offset, 13, Kahanwadi, Ankur School Road At-Songadh Pin-364250 and published from Shri Digambar Jain Swadhyay Mandir Trust At-Songadh, Ta. sihor, Dist. Bhavnagar Pin-364250.

Editor : Rameshchandra Vrajlal Shah.

If undelivered Please return to :—
Shri Dig. Jain Swadhyay Mandir Trust
SONGADH-364 250 (INDIA)
Phone No. (02846) 244334
Fax (02846) 244662

www.kanjiswami.org
email : contact@kanjiswami.org